वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक ज्योति
स्वामी विवेकानन्द का
१५०वाँ जन्मवर्ष
वर्ष ५१ अंक १२
दिसम्बर २०१३
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर २०१३

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५१
अंक १२

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

पुरखों की थाती

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो
मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः।
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते
महान्महत्येव करोति विक्रमम् ।।३३५।।

– वायु विनम्र तथा झुकी रहनेवाली घासों को नहीं, बल्कि सिर उठानेवाले बड़े-बड़े वृक्षों को ही उखाड़ फेंकती है। बड़े लोग बड़ों पर ही अपनी वीरता दिखाते हैं।

तृणं चाहं वरं मन्ये नराद्-अनुपकारिणः ।
घासो भूत्वा पशून् पाति भीरून् पाति रणाङ्गने ।।३३६

– उपकार को भूला देनेवाले स्वार्थी व्यक्ति की अपेक्षा मैं घास -फूस को कहीं उत्तम मानता हूँ, क्योंकि घास-फूस होकर वह पशुओं का खाद्य बनकर उनकी रक्षा करता है और रणभूमि में (छिपने का स्थान देकर) कायरों की भी रक्षा करता है।

तृणं ब्रह्मविदः स्वर्गः तृणं शूरस्य जीवितम् ।
उदारस्य तृणं वित्तं निःस्पृहस्य तृणं जगत् ।।३३७।।

– ब्रह्मज्ञ पुरुष के लिये स्वर्ग तिनके जैसा तुच्छ है, शूर-वीर के लिये जीवन, उदार व्यक्ति के लिये धन और कामनारहित व्यक्ति के लिये सारा संसार ही तिनके के समान तुच्छ है।

तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः ।
तस्याश्चेत् प्रसरो दत्तो दास्यं च शिरसि स्थितम् ।।३३८

– यदि तृष्णा को त्याग दिया जाय, तो दरिद्र और धनवान में कोई भेद नहीं रह जाता। किन्तु उस तृष्णा को यदि थोड़ा भी प्रश्रय मिला, तो गुलामी सिर पर सवार हो जाती है।

तृष्णाबद्धं जगत्सर्वं चक्रवत्परिवर्तते ।।(महा.) ३३९

– सारा संसार 'तृष्णा' (कामनाओं) से बँधा हुआ है; और इसी के बल से चक्र के समान घूमता रहता है।

तृष्णे देवि नमस्तुभ्यं या त्वं सर्वस्य सर्वदा ।
उत्पादयस्य यत्नेन गोष्पदे सागर-भ्रमम् ।।३४०।।

– हे तृष्णा देवी, आपको प्रणाम है, क्योंकि आपमें ऐसी शक्ति है कि आप गो-खुर से बने हुए गड्ढे में इकट्ठा होनेवाले थोड़े-से जल में भी समुद्र का भ्रम उत्पन्न कर देती हैं, अर्थात् जगत् के तुच्छ पदार्थों में महत्ता का बोध प्रकट कर देती हैं।

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
येनाशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ।।३४१

– वस्तुतः उसी व्यक्ति ने शास्त्र को पढ़ा, सुना तथा अपनाया है, जिसने आशा को छोड़कर निराशा का आश्रय लिया है।

ते साधवो भुवन-मण्डल-मौलिभूता
ये साधुतां निरुपकारिषु दर्शयन्ति ।
आत्म-प्रयोजन-वशीकृत-खिन्न-देहः
पूर्वोपकारिषु खलोऽपि हि सानुकम्पः ।।३४२

– वे ही महात्मा हैं, वे ही पृथ्वी-मण्डल के शिरोमणि हैं, जो अपना अहित करनेवालों के प्रति भी साधुता दिखाते हैं। वे आत्मानुभूति के लिये शरीर को थकाकर वश में कर लेते हैं, परन्तु अपने प्रति अपकार करनेवाले अपराधी के प्रति भी कृपा भाव बनाये रखते हैं।

ते धन्याः पुण्यभाजस्ते तैस्तीर्णः क्लेशसागरः ।
जगत्सम्मोह-जननी यैराशाऽऽशीविषी जिता ।। ३४३

– वे ही लोग धन्य हैं, वे ही पुण्यात्मा हैं और उन लोगों ने ही इस दुःखमय भवसागर को पार कर लिया है, जिन्होंने जगत् को सम्मोहित करनेवाली आशा-तृष्णा रूपी विषैली सर्पिणी पर विजय पा लिया है।

❖ (क्रमशः) ❖

सारदा-वन्दना

– १ –

(कलावती या भैरवी-रूपक)

जगत-जननी सारदे, मैं द्वार तेरे आ गया ।
भार देता हूँ तुम्हीं को, अब जरा कर दो दया ।।

धूल-कीचड़ में लिपटकर, हो गया अपवित्र हूँ,
अब मुझे धो-पोंछकर, कर ले स्वयं ही शुद्ध तू,
गोद में बैठा मुझे, दिखला अलौकिक जग नया ।।

अब न जाऊँगा कभी फिर, खेलने संसार में,
चिर विमल आनन्द है, तेरे अलौकिक प्यार में,
स्नेह पा करके 'विदेही', धन्य जीवन हो गया ।।

– २ –

(गजल-कहरवा)

अगर सुख-शान्ति से जीना, तुम्हें हो और चाहो मान,
तो अनुपम मंत्र यह माँ का, सुनो देकर जरा-सा ध्यान ।।

प्रभु ही व्याप्त हैं सबमें, नहीं कोई पराया है,
किसी के दोष मत देखो, जगत् प्रभु से ही आया है ।।

स्वयं की ओर ही देखो, कहो - निर्दोष क्या हम हैं ?
नजर हो दूसरों पर क्यों, हमारे दोष क्या कम हैं !!

किसी के दोष देखो तो, स्वयं पर पाप चढ़ते हैं,
अगर गुणगान करते हो, तो अपने पुण्य बढ़ते हैं ।।

दुखी अपना ही मन होगा, अगर निन्दा करो पर की,
मगर आनन्द पाओगे, अगर गुण देखते सबकी ।।

जगत् में हर कहीं सब कुछ, बदलता जा रहा नश्वर,
सभी दुख-व्याधि से पीड़ित, बनो हमदर्द सेवा कर ।।

सभी को पूर्व कर्मों से, मिला है जो भी दिखता है,
बहुत लाचार है प्राणी, विधाता भाग्य लिखता है ।।

किसी से भी करो मत द्वेष, सबसे प्रेम अब सीखो,
'विदेही' मंत्र यह माँ का, किसी के दोष मत देखो ।।

मैं भारत वापस लौटा

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

बेलूड़ मठ, नवम्बर १८९८ : कुछ ही दिन हुए मैं वैद्यनाथ देवघर में प्रियनाथ मुखर्जी के घर गया था। वहाँ ऐसी साँस फूली कि दम ही निकलने लगा, परन्तु हर श्वास के साथ भीतर से 'सोऽहं सोऽहं' गम्भीर ध्वनि उठने लगी। तकिये का सहारा लिये मैं प्राणवायु निकलने की अपेक्षा कर रहा था और सुन रहा था कि भीतर केवल 'सोऽहं सोऽहं' ध्वनि हो रही है। केवल यह सुनने लगा – **एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन**। – ब्रह्म एक और अद्वय है, उसमें नानात्व का किंचित् आभास तक नहीं है।[६४]

कलकत्ता, १२ नवम्बर १८९८ : श्रीमाँ (सारदा देवी) आज सबेरे नया मठ देखने जा रही हैं। मैं भी जा रहा हूँ।[६५]

बेलूड़ मठ, २२ नवम्बर १८९८ : लौटने के बाद से ही मैं अस्वस्थ हूँ।... मुझे यह रोग स्नायविक उत्तेजना के फलस्वरूप ही हुआ है और जब तक कि मेरे मन से चिन्ता तथा उत्तेजना चली न जाय, तब तक कोई भी जलवायु-परिवर्तन इसमें सुधार नहीं ला सकता।

दो वर्ष तक विभिन्न स्थानों में जलवायु-परिवर्तन करने के बाद भी, मेरी अवस्था दिन-दिन बिगड़ती जा रही है और मैं करीब-करीब मौत के दरवाजे पर पहुँच चुका हूँ।... एक पाप सर्वदा ही मेरे हृदय को पीड़ित करता रहता है और वह है कि जगत् की सेवा के निमित्त मैंने अपनी माँ के प्रति सोचनीय उदासीनता दिखायी है। फिर, मेरे द्वितीय भाई (महेन्द्र) के विदेश चले जाने के कारण वह शोक से अत्यन्त विदीर्ण हो चुकी है। अब मेरी अन्तिम इच्छा यह है कि कम-से-कम कुछ वर्षों तक मैं अपनी माँ की सेवा करूँ। मैं अपनी माँ के साथ रहना चाहता हूँ और वंश का उच्छेद रोकने हेतु अपने छोटे भाई का विवाह कर देना चाहता हूँ। ऐसा होने से निश्चित रूप से मेरा तथा मेरी माँ का अन्तिम काल शान्ति में बीतेगा। माँ इस समय एक छोटी कोठरी में रहती हैं। मैं उनके लिये एक छोटा-सा सुन्दर मकान बनाना चाहता हूँ और सबसे छोटे भाई के लिये कुछ व्यवस्था कर देना चाहता हूँ, क्योंकि उसके द्वारा किसी अच्छे रोजगार की सम्भावना बहुत कम है।[६६]

बेलूड़ मठ, ९ दिसम्बर १८९८ : श्री गुरुदेव ने मुझसे कहा था कि तू मुझे कन्धे पर चढ़ाकर जहाँ ले जायगा, मैं वही जाऊँगा और रहूँगा; वह स्थान चाहे वृक्ष के नीचे हो या कुटी में। इसीलिए मैं स्वयं उनको कन्धे पर उठाकर नयी मठभूमि पर ले जा रहा हूँ। निश्चय जान लेना कि श्री गुरुदेव 'बहुजनहिताय' यहाँ दीर्घ काल तक स्थिर रहेंगे।

... प्रत्येक भक्त अपने-अपने रंग से श्रीरामकृष्ण को रँगता है और इसीलिए वह उन्हें अपने भाव से देखता तथा समझता है। मानो वे एक सूर्य हैं और हम लोग अपनी आँखों के सामने भिन्न-भिन्न रंगों के काँच लगाकर उस एक ही सूर्य में भिन्न-भिन्न रंगों का अनुमान करते हैं।...

जो मठ हम यहाँ बना रहे हैं, उसमें सभी मतों और भावों का सामंजस्य रहेगा। श्री गुरुदेव का जो उदार मत था, यह उसी का केन्द्र होगा। विश्व-समन्वय की जो किरण यहाँ से प्रकाशित होगी, उससे सारा जगत् उद्भासित हो जायगा। ...

श्री गुरुदेव की इच्छा से आज उनके धर्मक्षेत्र की स्थापना हो गयी। बारह वर्ष की चिन्ता का बोझ आज सिर से उतर गया। इस समय मेरे मन में क्या-क्या भाव उठ रहे हैं, सुनोगे? यह मठ विद्या एवं साधना का एक केन्द्र-स्थान होगा।... धार्मिक गृहस्थ इस भूमि के चारों ओर अपने घर-बार बनाकर बसेंगे और बीच में त्यागी संन्यासी लोग रहेंगे। मठ के दक्षिण की ओर इंग्लैड तथा अमेरिका के भक्तों के लिए गृह बनाये जायेंगे। ...

यथासमय यह सब होकर रहेगा। मैं तो इसकी नींव मात्र डाल रहा हूँ। बाद में और न जाने क्या-क्या होगा! कुछ तो मैं कर जाऊँगा और कुछ विचार तुम लोगों को दे जाऊँगा।[६७]

बेलूड़ मठ, १५ दिसम्बर १८९८ : 'माँ' ही हम लोगों की एकमात्र मार्गदर्शक हैं और जो कुछ हो रहा है या

होगा, सब कुछ उनके ही विधान के अनुसार होगा।[६८]

बेलूड़ मठ, २६ जनवरी १८९९ : एक बार फिर मैं मृत्यु की घाटी में जा पहुँचा था। मेरा पुराना मधुमेह का रोग अब चला गया है। उसकी जगह पर जो आ गया है, उसे कुछ डॉक्टर दमा कहते हैं और कुछ अजीर्ण – और इसका कारण वे स्नायविक दुर्बलता बताते हैं। तथापि यह एक चिन्ताजनक रोग है, जो बीच-बीच में और कभी-कभी तो कई दिनों तक साँस फूलने के रूप में प्रगट होता है। कलकत्ता ही मेरे लिये सबसे अच्छी जगह है; इसलिये इस समय मैं शान्त रहकर अल्पाहार लेते हुए यहीं विश्राम ले रहा हूँ। यदि मैं मार्च तक ठीक हो गया, तो यूरोप के लिये प्रस्थान कर दूँगा। श्रीमती बुल तथा अन्य लोग जा चुके हैं, मुझे खेद है कि अस्वस्थता के कारण मैं उनके साथ यात्रा नहीं कर सका।

... मेरे लिये जरा भी चिन्ता मत करना। 'माँ' जैसा चाहेंगी, सब कुछ वैसा ही होगा। हमें तो केवल उनकी आज्ञापालन और कर्म करते रहना होगा।[६९]

बेलूड़ मठ, अप्रैल १८९९ : (स्वामी योगानन्द के देहान्त के बाद) इन दिनों मैं मन्दिर में इसलिये नहीं आया, क्योंकि मुझे अपने गुरुभाई से वंचित कर देने के लिये मैं ठाकुर पर बहुत नाराज था। मैं इन लोगों से इसलिये इतना प्यार करता हूँ, क्योंकि मैंने इतने काल तक – अपने सगे भाइयों से भी अधिक काल तक बड़ी घनिष्ठतापूर्वक इनके साथ निवास किया है।... परन्तु मैं अपने गुरुदेव पर भला क्रोध क्यों करूँ? मैं ऐसी अपेक्षा क्यों करूँ कि सब कुछ मेरी इच्छा के अनुरूप ही हो? और फिर मैं शोक भी क्यों करूँ? क्या मैं एक वीर नहीं हूँ? मेरे गुरुदेव मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कहते थे, "नरेन, तू वीर है; तुझे देखने मात्र से ही मेरे मन में साहस का संचार होता है।" हाँ, मैं वीर हूँ। तो फिर मैं भला शोक से अभिभूत क्यों होऊँ?[७०]

बेलूड़ मठ, ११ अप्रैल १८९९ : दो वर्ष के शारीरिक कष्ट ने मेरी बीस वर्ष की आयु का हरण कर लिया है। ठीक है, परन्तु आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं आता। है न! अब भी वही सनकी आत्मा, उसी एक भाव में विभोर होकर अपने लक्ष्य के प्रति सुदृढ़ निष्ठा के साथ विद्यमान है।[७१]

बेलूड़ मठ, १६ अप्रैल १८९९ : यदि किसी ऐसे विषय के त्याग से जिससे मुझे या मेरे गुरुभाइयों को विशेष प्रेम है, अनेक सच्चे और शुद्धचित्त देशभक्त हमारे कार्य में आकर सहायता करें, तो विश्वास रखिये कि हम ऐसे त्याग से तनिक भी न झिझकेंगे, आँसू की एक भी बूँद न बहायेंगे। ... परन्तु अभी तक ऐसे किसी व्यक्ति को सहायता करने के लिए अग्रसर होते हुए मैंने नहीं देखा। कुछ लोगों ने केवल अपने प्रिय शौक को हमारे से बदलने का प्रयत्न किया है – बस, इतना ही! यदि हमारे देश की अथवा मनुष्य-जाति की सच्ची सहायता होती हो, तो गुरु-पूजा त्यागने की क्या बात है, हम कोई भी घोर पाप तक करने या ईसाइयों की 'अनन्त काल तक नरकयातना' भोगने को भी तैयार हैं। परन्तु मनुष्य का अध्ययन करते-करते मेरे सिर के बाल सफेद हो गये हैं।

... मुझे उन देशभक्तों पर कुछ सन्देह है, जो हमारा साथ तभी देने को तैयार है, जब हम अपनी गुरुपूजा त्याग दें। अच्छा, यदि वे अपने देश की सेवा में सचमुच इतना उद्योग और परिश्रम कर रहे हैं कि प्राय: मृतप्राय से हुए जाते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि सिर्फ गुरुपूजा की ही एक समस्या से उनका सारा काम कैसे रुक जाता है।...

यदि गुरुपूजा रूपी गुठली के गले में फँसने से सब मरने लगें, तो अच्छा है कि गुठली को ही छोड़ दिया जाय।[७२]

बेलूड़ मठ, १० मई १८९९ : मैं पुन: स्वस्थ हो रहा हूँ। मुझे लगता है कि बदहजमी तथा स्नायविक थकान मेरी सारी समस्याओं का मूल कारण है। बदहजमी की मैं व्यवस्था कर रहा हूँ और तुमसे मिलने तक स्नायविक थकान पूरी तौर से जा चुकी होगी। पुराने मित्रों से मिलने का उल्लास तो तुम जानते ही हो! इसलिये आनन्द मनाओ! चिन्ता का कोई कारण नहीं। मैं जो निराशाजनक बातें लिख रहा हूँ, उनकी किसी भी पंक्ति पर विश्वास मत करना; क्योंकि कभी-कभी मैं अपने आपे में नहीं रहता। मैं अत्यन्त अधीर हो उठता हूँ।

जो भी हो, इन गर्मियों में मैं यूरोप आ रहा हूँ।[७३]

कलकत्ता, मई (?) १८९९ : उन दिनों मेरे पास खाने को भी नहीं था, और साथ ही मुझे कठिन परिश्रम भी करना पड़ता था। ओह कितना कठोर श्रम था वह! आज अमेरिकावालों ने प्रेम से मुझे यह अच्छा सा बिस्तर दे दिया है और खाने को भी मिल ही जाता है। पर मेरे लिए शारीरिक सुखों का विधान नहीं है और गद्दे पर लेटने से तो मेरी बीमारी बढ़ जाती है तथा दम घुटने लगता है। पलंग से उतर कर फिर जब मैं भूमि पर सोता हूँ, तब राहत मिलती है।[७४]

कलकत्ता, मई (?) १८९९ : आज एक मजेदार बात हुई। मैं एक मित्र के घर गया था। उन्होंने एक चित्र बनवाया था – विषय था कुरूक्षेत्र में अर्जुन-कृष्ण संवाद। श्रीकृष्ण रथ पर खड़े हैं, हाथ में रास है, और अर्जुन को गीता का उपदेश दे रहे हैं। उन्होंने मुझे चित्र दिखाकर मेरी सम्मति माँगी। मैंने कहा – ठीक ही है। किन्तु जब वे न माने, तो मुझे उनको अपना सच्चा मत बताना पड़ा कि उस चित्र में मुझे प्रशंसा-योग्य कुछ नहीं दिखायी पड़ा। प्रथम तो श्रीकृष्ण के युग का रथ आज के स्तूपाकार वाहनों के समान नहीं होता था और दूसरे श्रीकृष्ण की आकृति में भावाभिव्यक्ति का नितान्त अभाव है। ...

यूनान की पौराणिक कथाओं में वर्णित रथों के तुमने चित्र देखे हैं? उनमें दो चक्के होते हैं और उन पर पीछे से चढ़ा जाता है। हमारे रथ भी ऐसे ही थे। यदि चित्र के इन गौण अंगों का ही अंकन सही नहीं हुआ, तो चित्र बनाने से क्या लाभ? ...

श्रीकृष्ण का चित्रण वैसा ही होना चाहिए, जैसे वे थे – गीता के मूर्तस्वरूप। उस समय वे किं-कर्तव्य-विमूढ़, मोहग्रस्त और कार्पण्य-दोष से आहत अर्जुन को धर्म का उपदेश कर रहे थे, इसलिए श्रीकृष्ण के चित्र से गीता का मूल तत्त्व अभिव्यक्त होना चाहिए।

(कहते-कहते स्वामीजी ने अपनी वैसी ही मुद्रा और भाव-भंगिमा बना ली, जैसी कि श्रीकृष्ण की होनी चाहिये) देखो, श्रीकृष्ण ने घोड़ों की रास इस प्रकार थाम रखी है – रास इतनी तनी है कि घोड़े अपने पिछले पैरों पर उठ गये हैं, उनके अगले पैर हवा में उठे हैं और मुँह खुल गये हैं। इससे श्रीकृष्ण की छबि में उनकी महान् कर्मशीलता प्रकट होती है। उनका मित्र, विश्वविख्यात योद्धा दोनों सेनाओं के बीच में, धनुष-वाण एक ओर फेंककर, रथ में कायर की भाँति शिथिल और शोकमग्न होकर बैठ गया है – और श्रीकृष्ण एक हाथ में चाबुक लिये और दूसरे हाथ से रास खींचे अर्जुन की ओर थोड़ा-सा मुड़ गये हैं – उनका शिशु-सरल मुख अलौकिक-स्वर्गीय प्रेम और सहानुभूति से दीप्त हो उठा है – और वे अपने अनन्य सखा को गीता का सन्देश सुना रहे हैं।

... बिल्कुल ठीक! शरीर का प्रत्येक अंग सक्रिय है और फिर भी मुख पर नील गगन की गम्भीर शान्ति और प्रसन्नता व्याप्त है। यही तो गीता का मूल तत्त्व है – सभी परिस्थितियों में शान्त, स्थिर तथा अनुद्विग्न रहते हुए – शरीर, मन तथा आत्मा को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देना।[७५]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

६४. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ९७; **६५.** वही, खण्ड ७, पृ. ४१४; **६६.** Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. १०९; **६७.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ७९; **६८.** वही, खण्ड ७, पृ. ३५७; **६९.** Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ११२; **७०.** Reminiscences of Swam Vivekananda, Ed. 2004, पृ. ३१३; **७१.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. ३६८; **७२.** वही, खण्ड ७, पृ. ३६८; **७३.** Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ११५-१६; **७४.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ. २४२-४३; **७५.** वही, खण्ड ८, पृ. २३७-३८

संकल्प गीत

डॉ. राजेन्द्र पंजियार

अरुण देश की तरुण शक्ति हम,
सपने नये संजाएँगे।
हम विराट् संस्कृति के साधक,
नूतन ज्योति जगाएँगे।।

शस्य-श्यामला भूमि हमारी
हर क्यारी की शोभा न्यारी,
शुचिता यहाँ छलकती पग-पग
देवों ने हैं इसे सँवारी;
इसकी महिमा के गायक हम,
नया बसन्त बुलाएँगे।
हम विराट् संस्कृति के साधक
नूतन ज्योति जगाएँगे।।

यहाँ एकता में अनेकता
है अनेक में काम्य एकता,
विविध धर्म के बहुभाषी हम
पर न भाव में कहीं विषमता;
अपना गौरव मंद न हो,
ऐसा संकल्प निभाएँगे।
हम विराट् संस्कृति के साधक
नूतन ज्योति जगाएँगे।।

सभी सुखी हों, सभी निरापद
हम समत्व के रहे उपासक,
जगती में सबका मंगल हो
त्याग-प्रेम करुणा हो शासक
ज्ञान दीप से अग-जग को, हम
आलोकित कर जाएँगे।
हम विराट् संस्कृति के साधक
नूतन ज्योति जगाएँगे।।

वाणी के हम वरद पुत्र हों
मानवता के विमल मित्र हों,
कला-साधना में सुविज्ञ बन
पुण्य-पंथ में दृढ़ चरित्र हों;
राष्ट्र भारती के पद पर
जीवन अर्पित कर जायेंगे।

हम विराट् संस्कृति के साधक
नूतन ज्योति जगाएँगे।।

मृत्यु क्या है?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए । प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है । – सं.)

श्रीमद्भगवद्गीता में दूसरे अध्याय के २२ वें श्लोक में मृत्यु का वर्णन करते हुए कहा गया है -

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि
अन्यानि संयाति नवानि देही ।।

– अर्थात् 'जैसे मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को त्यागकर अन्य नये कपड़े पहन लेता है, वैसे ही यह शरीरी आत्मा भी जीर्ण शरीरों को छोड़कर अन्य नये शरीरों में प्रवेश कर जाती है ।'

इस श्लोक के अनुसार मृत्यु का अर्थ हुआ एक शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेना । तात्पर्य यह कि मृत्यु के साथ मनुष्य का सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि मृत्यु एक नये जीवन में पदार्पण करने का सोपान है । वह दो जीवनों के बीच की अवस्था है, जिसमें से गुजरते हुए जीव नवीन शक्ति और उत्साह प्राप्त करता है ।

इसका अर्थ यह नहीं कि किसी का वध कर दिया जाय और यह दलील दी जाय कि मारा गया व्यक्ति मृत्यु के द्वारा नवीन उत्साह प्राप्त करेगा । यह तर्क की तौहीनी होगी । यहाँ तात्पर्य मात्र इतना है कि मनुष्य की स्वाभाविक मृत्यु एक गाढ़ी नींद के समान है, जिसमें से गुजरकर वह तरोताजा अनुभव करता है ।

गीता में मृत्यु की प्रक्रिया का संकेत देते हुए कहा गया है कि जीव का इस पंचभौतिक शरीर से निकल जाना ही मृत्यु है । जीव के तीन शरीर माने गये हैं – १. स्थूल शरीर जो दिखाई देता है, २. सूक्ष्म शरीर जो तन्मात्राओं से, प्राण तथा मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म शक्तियों से बना है, और ३. कारण शरीर, जो संचित वासनात्मक संस्कारों का कोश है । सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर एक साथ बने रहते हैं, और दोनों मिलकर मनोयंत्र कहलाते हैं । स्थूल शरीर को देहयंत्र भी कहा जाता है । इन शरीरों के भीतर आत्मा ओत-प्रोत होकर विद्यमान है, जो हमारे भीतर का चैतन्य तत्त्व है । देहयंत्र और मनोयंत्र दोनों ही जड़, अचेतन हैं, पर दोनों के जड़त्व में एक अन्तर है । देहयंत्र स्थूल जड़ कहलाता है और मनोयंत्र सूक्ष्म जड़ कहलाता है । यह अन्तर इसलिए है कि देहयंत्र आत्मचैतन्य को प्रतिफलित नहीं कर पाता, जबकि मनोयंत्र इस आत्मचैतन्य को प्रतिफलित करता है और इस प्रकार अचेतन होता हुआ भी चैतन्यवान-सा प्रतीत होता है । जब हम आत्मचैतन्य को मनोयंत्र के साथ युक्त करके देखते हैं, तो उसे 'जीव' कहते हैं ।

अब विचार करें कि मृत्यु क्या है? जब जीव यानि मनोयंत्र देहयंत्र को छोड़कर निकल जाता है, तो उसे मृत्यु कहते हैं । शरीर निर्जीव होकर पड़ा रहता है । तो क्या आत्मा शरीर को छोड़कर निकल गया? नहीं, आत्मा तो सर्वव्यापी है, अत: वह मुर्दे में भी विद्यमान है । तब यह जीव क्या है, जिसके शरीर को छोड़कर निकल जाने से शरीर मुर्दा बन जाता है । यह जीव है मनोयंत्र, जो आत्मा के चैतन्य को प्रतिफलित कर चेतन मालूम पड़ता है ।

आत्मा का धर्म है चैतन्य और प्राणवत्ता, जैसे अग्नि का धर्म है ताप । पर आत्मा का यह धर्म मनोयंत्र के माध्यम से ही प्रकट होता है । जैसे विद्युत का एक धर्म है प्रकाश, पर यह धर्म तभी प्रकट होता है, जब उसे बल्ब आदि का माध्यम प्राप्त होता है । जहाँ भी और जिसमें भी इस मनोयंत्र की क्रिया होती है, वहाँ और उसमें आत्मा के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण हम उसे 'जीवन' या 'प्राणयुक्त' या 'चेतन' कहकर पुकारते हैं । और जहाँ मन की क्रिया नहीं है, उसमें आत्मा का चैतन्य भी प्रकट नहीं होता, इसीलिए हम उसे 'निर्जीव' या 'प्राणहीन' या 'जड़' कहकर सम्बोधित करते हैं ।

इसके द्वारा अब मृत्यु की प्रक्रिया को समझा जा सकता है । यह शरीर तब तक जीवित रहता है, जब तक उसके भीतर यह मन, यह अन्त:करण, यह सूक्ष्म शरीर – या यों कहें, यह मनोयंत्र विद्यमान है, क्योंकि उसी के माध्यम से शरीर में आत्म -चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है । जब यह मनोयंत्र इस स्थूल देह से अपनी क्रिया समेटकर बाहर निकल जाता है, तब इसके अभाव में आत्मचैतन्य का प्रतिबिम्बित होना बन्द हो जाता है, यानी आत्मा का चैतन्य-धर्म अपने को प्रकट करनेवाले यंत्र के अभाव में पुन: प्रच्छन्न या आवृत हो जाता है । जैसे बल्ब के भीतर फिलामेंट (तन्तु) के टूटने पर, विद्युत के रहते हुए भी उसका प्रकाश-धर्म छिप जाता है, वैसे ही । ऐसी दशा में, आत्मा के होते हुए भी यह देह 'निर्जीव', 'प्राणहीन' या 'जड़' कहकर घोषित होता है और यही मृत्यु की अवस्था है । ❑

रामराज्य की भूमिका (९/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

भगवान राम की विशेषता यह है कि साधुमत और लोकमत – दोनों को ही मर्यादा देते हैं और दोनों की सहायता लेते हैं। महापुरुषों से आशीर्वाद तथा सलाह लेते हैं और उसके बाद उसे क्रियान्वित करने के लिए वे लोकमत का आश्रय लेते हैं। रावण का वध कैसे करें – यह वे महर्षि अगत्स्य से पूछते हैं, पर यह नहीं कहते कि आप रावण के वध में मेरी सहायता कीजिए। रावण-वध हेतु वे बन्दरों की सेना एकत्र कर लंका की ओर जाते हैं। नर की तो बात क्या, भगवान ने वानर को भी इतना महत्त्व दिया और इतना ऊँचा उठाया। वे बन्दरों से कहते हैं – आप लोग सीताजी का पता लगाइये। कितनी बढ़िया बात है – इससे प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को उस अभियान में अपने को जुड़ा हुआ अनुभव करे कि सीताजी की खोज में हमारी भी भूमिका है, उनको पाने की चेष्टा में हमारी भी भूमिका है। लोकमत को एकत्र करने की भावना को भगवान श्रीराम कितना महत्त्व देते हैं, रामराज्य के पहले वह दृश्य दिखाई पड़ा। जब रावण वध करके लौटे, तो उनके एक ओर गुरु वशिष्ठ और दूसरी ओर बन्दरों की विशाल सेना थी। एक ओर अकेला साधु और दूसरी ओर अनगिनत बन्दर। ये अनगिनत बन्दर लोकमत के प्रतीक हैं, जिन्होंने श्रीराम के पीछे चलकर लंका के युद्ध में भाग लिया है और संघर्ष किया है। दूसरी ओर महापुरुष हैं। भगवान किसको महत्त्व देते हैं? उनकी कितनी सुन्दर भूमिका है ! गोस्वामीजी ने व्यंग्यात्मक भाषा में लिखा कि बन्दर बेचारे शायद यह भी नहीं जानते ये कि गुरु वशिष्ठ जैसे महापुरुषों को कैसे प्रणाम किया जाता है। उन्होंने श्रीराम को प्रणाम करना तो सीख लिया था, पर गुरुजी को कैसे झुककर दण्डवत प्रणाम करना चाहिए, यह नहीं जानते थे। गोस्वामीजी ने लिखा है – स्वयं प्रभु ने सिखाया कि आप लोग इस तरह से प्रणाम कीजिए –

पुनि रघुपति सब सखा बोलाए।
मुनि पद लागहु सकल सिखाए।। ७/८/५

परन्तु साधुमत में और लोकमत में बँटवारा कितना बढ़िया किया? भगवान राम बन्दरों से कहते हैं – ये ही गुरु वशिष्ठ हैं, जिनकी कृपा से रावण मारा गया –

गुर बसिष्ट कुलपूज्य हमारे।
इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे।। ७/८/६

परन्तु जब गुरुजी से कहते हैं, तो दूसरी बात कहते हैं। बोले – ये सब मेरे सखा हैं। उन्होंने यह नहीं कहा कि ये सब बन्दर या पशु हैं, सेवक भी नहीं कहा, बल्कि बन्दरों को सखा बताया और बोले – इन्हीं के द्वारा युद्ध जीता गया –

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भए समर सागर कहँ बेरे।। ७/८/७

कहा कि मेरे हित के लिए इन्होंने अपने प्राणों तक को दाँव पर लगा दिया; ये मुझे भरत से भी अधिक प्रिय हैं –

मम हित लागि जन्म इन्ह हारे।
भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे।। ७/८/८

भगवान श्री राघवेन्द्र ने उनको बड़ा महत्त्व दिया। इस प्रकार उन्होंने साधुमत और लोकमत दोनों को जोड़ दिया। वाल्मीकि की आज्ञा से वे रहते तो चित्रकूट में हैं, परन्तु मित्रता कोल-किरातों से करते हैं –

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई।
हरषे जनु नव निधि घर आई।।
कंद मूल फल भरि भरि दोना।
चले रंक जनु लूटन सोना।। २/१३५/१-२

कितना सामंजस्य तथा सन्तुलन है ! एक ओर तो साधुओं से आशीर्वाद तथा उपदेश ग्रहण करते हैं और फिर उसको क्रियान्वित करने के लिये सबका सहयोग स्वीकार करते हैं। एक ऐसा परिवर्तन जो बड़े-से-बड़े व्यक्ति को ही नहीं, छोटे-से-छोटे को भी बदल दे, पूरे समाज को बदल दे। साधुमत और लोकमत – दोनों की अपेक्षा है। दोनों में विरोध भले ही दिखाई दे, पर दोनों का सदुपयोग होना चाहिए।

इसी प्रकार राजनीति और वेदमत है। वेद परलोक की बात करते हैं। वेद में स्वर्ग-नरक का भी संकेत है और मुक्ति का भी वर्णन किया गया। पर राजनीति में भौतिक समस्याओं का समाधान है। राजनीति की दृष्टि लोकपरक है और वेद की दृष्टि परलोकपरक है। राजनीति की दृष्टि तात्कालिक है और वेद की दृष्टि सार्वकालिक। तो क्या करें? यदि हम लोक को छोड़कर केवल परलोक की चिन्ता करें, तो लोक की उपेक्षा होती है, जैसा इस देश में कई बार हुई है या बहुतों के जीवन

में कई बार होती है। फिर यदि हम लोक को ही सब कुछ मान लें, तो हमारी दृष्टि तात्कालिक लाभ और सफलता पर होगी, तो इसके फलस्वरूप हम लोकवादी हो जायेंगे। वैसे इसको भी बड़ा महत्त्व दिया गया। यदि हम विचार करें, तो जो लोक दिखाई देता है, यदि हम उसी को सब कुछ मानकर चलें, तो हमारी दृष्टि अधूरी है। गोस्वामीजी व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि आज के समाज में – लोगों की दृष्टि परलोक की ओर से बिल्कुल विमुख होकर केवल लोक की बात पर है –

परलोक फीकी मत लोक रंग नई ।।

लोक की जरूरत तो है; परन्तु व्यक्ति जितना दिखाई देता है, उतना ही नहीं है, जो सृष्टि दिखाई देती है, वह उतनी ही नहीं है। इसलिए हम परलोक के सत्य को भी जीवन में स्वीकार करें। जब रामराज्य बना तो अनोखी बात हुई। आम तौर पर राजा लोग आदेश देते हैं और बहुत हुआ तो सन्देश देते हैं, पर रामराज्य में भगवान श्रीराम ने प्रजा को न आदेश और न सन्देश, बल्कि उपदेश दिया। उपदेश देने का अभिप्राय यह है कि हम आपको बलपूर्वक बाध्य नहीं करते। भगवान बोले – आप मेरी बात को सुनिए और यदि लगे कि मेरी बात ठीक है, तो आप उसे कीजिए। मैं यह नहीं कहता कि यह करना पड़ेगा, मैं जो कहता हूँ उस पर आप विचार कीजिये और यदि ठीक लगे, तो स्वीकार कीजिए –

सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई ।। ७/४३/४

यह उदार वृत्ति है और यहाँ भगवान राम समन्वय देते हैं। उनसे पूछा गया कि लोक को महत्त्व दें या परलोक को? रामराज्य लोकवादी है या परलोकवादी? भगवान बोले – यदि आप चाहते हैं कि हमारा यह लोक और साथ-ही-साथ परलोक भी सुखमय हो, तो मेरी बातों पर ध्यान दें –

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू ।
सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू ।। ७/४५/१

इसे व्यापक अर्थों में कहा जा सकता है कि शरीर के सन्दर्भ से जुड़ी हुई समस्याओं को भी महत्त्व दें और आत्मा से जुड़ी हुई समस्याओं को भी महत्त्व दें।

तो गुरु वशिष्ठ ने जो सूत्र दिया था, भगवान राम और भरतजी ने सचमुच उसी को अपने जीवन में क्रियान्वित किया। बड़ा विलक्षण समन्वय है। उसकी व्याख्या करते हुए तो मैं सोचने लग जाता हूँ कि क्या कहूँ और क्या छोड़ूँ? देखिये, साधुमत और लोकमत को भगवान राघवेन्द्र किस पद्धति से प्रस्तुत करते हैं? लोकमत उनके पीछे भाग रहा था, पर भगवान राम उसे पसन्द नहीं करते, प्रसन्न नहीं होते, बल्कि लोकमत को शिक्षित करने का प्रयास करते हैं। यही समस्या जब भरतजी के सामने आई तो साधुमत के रूप में गुरु वशिष्ठ का मत था – राज्य स्वीकार कर लीजिए, राज्य चलाइए। लोकमत में श्रीराम के प्रति बड़ा आग्रह था, बड़ा स्नेह था, पर वे लोग गुरु वशिष्ठ के भाषण को सुनकर मौन रह गये। कभी-कभी व्यक्ति कोई बात स्वीकार नहीं कर पाता, तो भी उसे सुनकर चुप रह जाता है। लोकमत मौन रह गया। पर भरतजी साधुमत को भी प्रभावित करते हैं और लोकमत को भी। गुरु वशिष्ठ ने जब भाषण दिया, प्रस्ताव हुआ, अनुमोदन हुआ, समर्थन हुआ, तो ऐसा लगा कि सब लोग यही चाहते हैं। मंत्रियों ने बताया कि सारा लोकमत चाहता है कि आप राजा बने। भरतजी यदि इस झूठे भुलावे में आ जाते, तो कह सकते थे कि जब इतने लोग चाहते हैं, तो हम सिंहासन पर बैठ जाते हैं। पर लोकमत को ठीक-ठीक शिक्षा और सही दिशा देनी थी। तो भरतजी ने क्या किया? उन्होंने जो भाषण दिया, वह बड़ा भावपूर्ण, विवेकयुक्त तथा सुसंगत था। उन्होंने कहा – यदि आप मेरे व्यक्तिगत कल्याण की बात सोचते हैं, तो व्यक्ति जब तक ईश्वर के पद को नहीं प्राप्त कर लेगा, तब तक कोई बड़ा-से-बड़ा पद भी उसके जीवन की ज्वाला को शान्त नहीं कर सकता –

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ ।। २/१८२

आप लोगों के मुँह से भले ही यह बात न निकल रही हो, पर मेरी घोषणा है – सुबह उठकर हम सब चित्रकूट चलेंगे –

प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं ।। २/१८३/२

कैसा विलक्षण अन्तर पड़ा। भरतजी ने जनमत की भावना पूरी परिवर्तित कर दी।

जनता ने मूक रहकर अनिच्छा रहते हुए भी स्वीकृति दी थी कि चलो, राम तो चले ही गये, अब भरत ही सिंहासन पर बैठे। जब भरतजी ने उन्हें दिशा देते हुए यह घोषणा की, तो चारों ओर उनकी जयध्वनि होने लगी। गोस्वामीजी ने लिखा – इस निर्णय पर भरतजी सबके प्राणप्रिय हो गए –

चलत प्रात लखि निरनउ नीके ।
भरतु प्रानप्रिय भे सबही के ।। २/१८५/२

इससे लगता है कि पहले लोगों ने भरत को सिंहासन के लिये स्वीकार नहीं किया था। पर भरतजी ने लोगों के मन-प्राण को ऐसा प्रेरित किया, ऐसी दिशा दी कि जब वे चित्रकूट की यात्रा करते हैं, तो साधुमत के रूप में गुरु वशिष्ठ भी उनके साथ में हैं और अयोध्या का लोकमत भी। वे दोनों को – सबको साथ लेकर वे श्रीराम की ओर, ईश्वर की दिशा में जा रहे हैं। इस यात्रा में एक और भी विचित्र नई प्रणाली का प्रयोग किया गया, जो आगे चलकर रामराज्य की भूमि बनी। – क्या? भरतजी चतुरंगिणी सेना लेकर जा रहे हैं। यही विश्व के इतिहास में एक अनूठा प्रयोग था, जिसको देख भ्रम हुआ। निषादराज ने भी जब सुना कि भरतजी सेना लेकर जा रहे हैं, तो उनके मन में यही सीधा-सा तर्क आया

कि सेना तो युद्ध के लिए ही होती है। इसलिये वे सेना लेकर श्रीराम से युद्ध करने हेतु जा रहे हैं, इसीलिए वे श्रीराम के मित्र के नाते भरतजी से लड़ने के लिये प्रस्तुत हो गये। लक्ष्मणजी ने भी यही तर्क किया – यदि उनके हृदय में कोई कुटिल योजना न होती, तो सेना लेकर क्यों आते? –

जौं पै जियँ न होति कुटिलाई।
तौ कत लीन्ह संग कटकाई ।। २/१८९/४

सेना का ऐसा नया और विचित्र प्रयोग भविष्य के रामराज्य की भूमिका थी। रामायण में कई राज्यों का वर्णन है – प्रतापभानु का राज्य, महाराज जनक का राज्य, महाराज दशरथ का राज्य और रावण का राज्य। इन राज्यों की अलग-अलग विशेषताएँ हैं और अलग-अलग कमियाँ हैं। पर महाराज दशरथ तथा भगवान राम के राज्य के बीच में भरतजी द्वारा एक नया प्रयोग किया गया। दशरथ के राज्य में भी सेना का प्रयोग युद्ध के लिये किया जाता था, अन्य राज्यों में भी सेना का प्रयोग सुरक्षा और युद्ध के लिए ही किया जाता था। यह स्वाभाविक भी है। जब शत्रु का आक्रमण होगा, तो संघर्ष भी करना पड़ेगा। लोभ के लिये युद्ध भी हो सकता है। पर भरतजी मानो यह बताना चाहते थे कि युद्ध को केवल बाहर ही नहीं, भीतर भी जीतना है। भरतजी ने चित्रकूट में रामराज्य का स्वरूप देखा था, उनका रामराज्य का जो दर्शन है, उसमें यम-नियम आदि सद्गुण ही मानो सैनिक हैं –

भट जम नियम सैल रजधानी ।। २/२३५/७

तो भरतजी सेना लेकर क्यों जा रहे थे? क्या अपने राज्य को निष्कण्टक बनाकर सत्ता के सिंहासन पर बैठने जा रहे थे? लक्ष्मणजी ने व्याख्या की थी – सेना लेकर आए थे कि माँ ने जो भूल की उसको ठीक करना चाहते थे। माँ ने कह दिया चौदह वर्ष के लिए वनवास, तो चौदह वर्ष बाद राज्य छिन सकता था। तो क्यों न इस चौदह वर्ष बाद आनेवाली समस्या का अभी से समाधान कर दिया जाय। उन्होंने सोचा होगा कि राज्य को आगे के लिए भी अकंटक बना दें –

जानहिं सानुज रामहि मारी।
करउँ अकंटक राजु सुखारी ।। २/१८९/५

पर भरतजी सेना लेकर क्यों जा रहे थे? सिंहासन भी ले गये थे, छत्र भी ले गये थे, चँवर भी ले गये थे, सेना भी ले गये थे और वह पादुका भी भरतजी ही ले गये थे, जो प्रभु ने उन्हें दी थी। क्यों ले गये थे? उनके मन में एक विलक्षण भावना थी। उन्होंने आदेश दिया था कि राज्याभिषेक की जितनी भी सामग्री है, आप वह सब लेकर चलें और उन्होंने एक वाक्य घोषित किया – हम लोग जाकर प्रभु से प्रार्थना करेंगे और अपने महान् गुरु वशिष्ठ से अनुरोध करेंगे कि वे चित्रकूट में ही प्रभु का राज्यभिषेक कर दें –

बनहिं देब मुनि रामहि राजू ।। २/१८७/३

भरतजी का अभिप्राय यह था कि तब कोई राज-सिंहासन पर बैठता है, तब सेना अपना समर्पण प्रदर्शित करने हेतु वहाँ उपस्थित रहती है; अपना विश्वास अर्पित करने के लिये राजा के सामने झुकती है, उन्हें नमन करती है। भरतजी ने एक नई दृष्टि दी। लोगों को आश्चर्य हुआ, जब हम भगवान राम को चित्रकूट से अयोध्या लौटा लाने को जा रहे हैं, तो राज्याभिषेक अयोध्या में होगा या चित्रकूट में? भरतजी बोले – चित्रकूट में। उनकी यह भावना कितनी कोमलता और रस से भरी हुई है। भरतजी की भावना यह है कि यदि प्रभु से कहा जाय कि आप अयोध्या चलकर सिंहासन स्वीकार कीजिये, तो यह बहुत बड़ी धृष्टता है। – क्यों?

संसार में व्यक्ति छोटा होता है और इसीलिये वह सिंहासन या पद की ओर भागता है कि उस पर बैठकर वह बड़ा हो जायगा। इसी कारण पद के लिये होड़ लगी रहती है। पर भरतजी बोले – क्या हमारे प्रभु सिंहासन पर बैठकर बड़े होंगे? क्या हम उनसे कहें कि सिंहासन लेने के लिये अयोध्या चलिए? हमारे प्रभु को सिंहासन की आवश्यकता नहीं है। उनको कोई सिंहासन बड़ा नहीं बना सकता। वे इतने बड़े हैं कि उनको कोई पद बड़ा नहीं बना सकता। पर अगर सिंहासन को बड़ा बनने की आवश्यकता हो, तो वह स्वयं प्रभु के पास चले और प्रभु से कहे कि आप हमें स्वीकार करके धन्य कीजिए। इसीलिये प्रभु राज्य के पास नहीं आयेंगे, वे सत्ता के पास नहीं आयेंगे, अपितु राजसत्ता और सिंहासन ही हमारे प्रभु के पास चलेंगे।

परन्तु उनकी यह भावना इतनी नई और इतनी उत्कृष्ट थी कि निषादराज जैसे व्यक्ति भी भ्रमित हो जाते हैं कि लड़ाई को छोड़कर सेना का भला और क्या उपयोग हो सकता है? उसी की अन्तिम परिणति रामराज्य में हुई।

रामायण में आप रामराज्य का वर्णन पढ़ेंगे, तो देखेंगे कि गोस्वामीजी ने उसमें एक नई बात कही। दशरथजी ने सेना का प्रयोग किया, भगवान राम ने भी यथावश्यक सेना का प्रयोग किया, पर भरतजी ने सेना का एक नया उपयोग किया – ईश्वर के पास पहुँचने के लिए, समर्पण के लिये प्रभु के चरणों में नमन करने के लिये। फिर उसकी अन्तिम परिणति यह हुई कि गोस्वामीजी ने भगवान श्रीराम के राज्य का वर्णन किया, तो सारी बातों का उल्लेख किया, पर सेना का नाम ही नहीं लिया। पढ़नेवालों का भी इस ओर ध्यान जाता है। कुछ लोग बड़ी सरलता से सफाई दे देते हैं कि गोस्वामीजी इतना बड़ा ग्रन्थ लिख रहे थे, अत: सेना का वर्णन करना भूल गए होंगे। कोई व्यक्ति इतने बड़े राज्य का वर्णन करे और सेना का वर्णन भूल जाय ! परन्तु रामराज्य में

सेना का वर्णन न करके गोस्वामीजी दो बातों की ओर संकेत करते हैं। क्या? एक तो उन्होंने बार-बार कहा – राजनीति के चार चरण हैं – साम, दाम, दण्ड और भेद –

नीति धर्म के चरन सुहाए।
साम दान अरु दंड बिभेदा ।। ६/३८/१०,९

उन्होंने बताया कि योग्य राजा का यह लक्षण है कि वह उचित समय पर इन नीतियों का प्रयोग करे। पर रामराज्य में गोस्वामीजी एक परिवर्तन करते हैं। बोले – रामराज्य में दो ही नीतियाँ हैं, बाकी दो का अभाव है। उसमें न तो दण्ड - नीति का प्रयोग किया गया और न भेदनीति का। वे बड़ी साहित्यिक पद्धति से बोले कि संन्यासियों को धन्यवाद देना चाहिए कि वे दण्ड लेकर चलते थे, तो लोगों को ध्यान आता कि दण्ड भी कोई वस्तु है, नहीं तो शायद लोग 'दण्ड' शब्द ही भूल गये होते। और 'भेद' शब्द तो समाज से इतना मिट गया था कि यदि गायक लोग संगीत में राग-रागिनी का भेद न बताते, तो लोग 'भेद' शब्द भी भूल गये होते –

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।। ७/२२

राजनीति के तो चारों चरण होने चाहिए और रामराज्य में दो ही चरण रहे, तो क्या इससे राजनीति अपूर्ण रह गई?

इसे दूसरे प्रकार से देखें, यदि राजनीति के चार चरण हैं, तो पशु के भी चार चरण होते हैं, पर मनुष्य के दो ही चरण होते हैं। जब तक समाज में पशुता है, तब तक राजनीति में चार चरण की आवश्यकता है और जब समाज में पशुता के स्थान पर मानवता आ जायेगी, तो दो ही चरणों की अपेक्षा रह जायेगी। हर कार्य के लिये अगर दण्ड का प्रयोग करना पड़े, हर कार्य में भेदनीति का प्रयोग करना पड़े, तो इसका अर्थ है कि समाज में अभी पशुता की वृत्ति बाकी है। और रामराज्य का अर्थ यह है कि जहाँ पर पशुता की वृत्ति मिट गई है। – और सेना? गोस्वामीजी ने बड़ी चतुराई से कहा – रामराज्य में तो एक ही युद्ध चल रहा था; और वह बाहर का नहीं, मन के साथ था, अत: सेना की जरूरत ही नहीं थी –

जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज ।। ७/२२

श्रीराम के राज्य में लोग मन पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, बहिरंग शत्रु की कोई समस्या और बहिरंग विजय की कोई इच्छा शेष नहीं रह गई थी।

अब भरतजी की इस यात्रा की परिणति देखिये। कितना सुन्दर सामंजस्य है! चित्रकूट में भरतजी और भगवान राम का मिलन हुआ। यह भक्त और भगवान का मिलन है, प्रेम और ज्ञान का मिलन है, ईश्वर और जीव का मिलन है। इस यात्रा के द्वारा भरतजी ने बता दिया कि जब तक हम चित्रकूट की यात्रा नहीं करेंगे, तब तक हमारी समस्याओं का समाधान नहीं होगा। यह चित्रकूट की यात्रा भीतर भी होनी चाहिए और बाहर भी होनी चाहिए। गोस्वामीजी उसका एक आन्तरिक रूप प्रस्तुत करते हुए कहते हैं – वहाँ पाँच वृक्ष हैं, उनमें से एक की छाया में भगवान राम और श्री सीताजी विराजमान हैं। यहाँ सांकेतिक भाषा में पंचकोषों का भी वर्णन किया गया है। उनके अन्तराल में भगवान राम विराजमान हैं। भरतजी निषादराज के साथ उस चित्रकूट की भूमि में प्रवेश करते हैं। उस चित्त रूपी चित्रकूट की, ईश्वर से एकाकारता की भूमि में जाने की जो साधना-पद्धति है, उसका बड़ा सुन्दर और बड़ा विस्तृत वर्णन है। भरतजी ने उस वन में प्रवेश करके पहले वन को देखा। उसके बाद पर्वत को देखा। उसके बाद वृक्षों को देखा। उसके बाद भगवान राम को देखा और उसके बाद उनका भगवान राम से मिलन हुआ। साधना के इन पाँचों सोपनों को पार करने के बाद, जो उनकी स्थिति बदल गई है, उसका आध्यात्मिक संकेत देते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि जब उन्होंने वन का दर्शन किया तो उनकी स्थिति कैसी थी? जैसे कोई प्रजा अच्छे राजा को पाकर सुखी हो –

राम बास बन संपति भ्राजा।
सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा ।। २/२३५/५

इसके बाद श्रीराम जिस पर्वत पर निवास करते हैं, उसका दर्शन करके भरतजी की स्थिति और बदली – उनके हृदय में प्रेम उमड़ पड़ा और उनकी ऐसी स्थिति हो गई मानो कोई तपस्वी अपनी तपस्या का फल प्राप्त कर सुखी हो जाय और नियम को छोड़ देने की स्थिति आ जाय –

राम सैल सोभा निरखि भरत हृदयँ अति पेमु।
तापस तप फलु पाइ जिमि सुखी सिरानें नेमु ।। २/२३६

पहले प्रजा का सुख मिला, फिर तपस्वी का फल मिला और आगे बढ़कर आश्रम में प्रविष्ट हुए तो योगी की स्थिति आ गयी – मानो योगी ने परमार्थ तत्त्व को पा लिया हो –

करत प्रबेस मिटे दुख दावा।
जनु जोगीं परमारथु पावा ।। २/२३९/३

लेकिन यही अन्त नहीं था। दुख का निवारण हो जाने के बाद भी सुख की सत्ता विद्यमान थी, पर भरतजी के जीवन में उसके भी अभाव की स्थिति उत्पन्न हुई – न हर्ष था, न शोक था, न दुख था, न सुख था, एक ऐसी चौथी स्थिति आई –

सानुज सखा समेत मगन मन।
बिसरे हरष सोक सुख दुख गन ।। २/२४०/१

इसके पश्चात लक्ष्मणजी ने भगवान राम को सूचना दी – भरतजी आपको प्रणाम कर रहे हैं –

भरत प्रनाम करत रघुनाथा ।। २/२४०/७

भगवान राम उठे और भरतजी से मिलने चले, तो उनका दुपट्टा गिर पड़ा, उनका धनुष-बाण और उनका निषंग गिर

पड़ा। ये वस्तुएँ – धनुष, बाण और निषंग – मानो काल या दूसरे अर्थों में ज्ञान का प्रतीक है और दुपट्टा आवरण का प्रतीक है। निरावृत श्रीराम भरतजी को उठाकर हृदय से लगा लेते हैं। उस स्थिति का फल क्या हुआ? गोस्वामीजी बोले – प्रभु ने उनको जबरदस्ती उठाकर हृदय से लगा लिया! मिलन की इस रीति को देखकर सब अपनी सुध भूल गये –

बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान।। २/२४०

अब उस स्थिति की क्या कहें? बोले – पहले एक सुख प्रजा का, फिर तपस्वी योगी का सुख, फिर सुख-दुख का अभाव और सबसे अन्त में अब गोस्वामीजी ने कहा – न मन रह गया, न बुद्धि रही, न चित्त रह गया, न अहंकार रहा –

परम पेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई ।। २/२४१/२

पार्वतीजी ने शंकरजी से पूछा – यह क्या हो रहा है? न श्रीराम कुछ बोल रहे हैं, न भरतजी। न श्रीराम पूछ रहे हैं कि भरत, तुम्हारी यात्रा कैसी रही और न भरतजी ही प्रभु से कुछ कह रहे हैं। शंकरजी ने कहा – ये बोलने की स्थिति से आगे निकल चुके हैं। अब बोलने की स्थिति ही नहीं रह गई है –

कोउ किछु कहई न कोउ किछु पूँछा।
प्रेम भरा मन निज गति छूँछा ।। २/२४२/७

शब्द की गति ही ठहर गई है। प्रेम और ज्ञान का, जीव और ब्रह्म का, भक्त और भगवान का ऐसा दिव्य मिलन हुआ कि न राम में रामत्व रहा और न भरत में भरतत्व, एकमात्र शुद्ध अद्वैत की स्थिति प्रकट हो गयी। इसे आप चाहे योगी की भाषा में निर्विकल्प समाधि कहें, या प्रेमियों की भाषा में प्रेमाद्वैत कहें। अद्वैत की यह स्थिति चित्रकूट में हुई।

पर रामराज्य का दूसरा पक्ष भी है – भरतजी चित्रकूट में ही नहीं रह गये। चित्रकूट का मिलन जब इतना आनन्दमय था, तो इस मिलन के आनन्द को कौन छोड़ना चाहेगा! पर यही सन्तत्व और अवतारवाद की भूमिका है। मंगलकारी भूमिका है। अयोध्या और चित्रकूट में जितने संवाद हुए हैं, आप उसे गहराई से पढ़िए, तो आपको लगेगा कि सचमुच धर्मनीति, राजनीति, समाज-दर्शन के साथ ही जीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं है, जो इन संवादों में आपको न मिले।

अब इसकी अन्तिम परिणति क्या है? निर्विकल्प समाधि में जाने के बाद समाज में, व्यवहार में लौटने की अपेक्षा है या नहीं? रामराज्य में या दिव्य प्रेमाद्वैत के बाद संसार में द्वैत को स्वीकार करने की अपेक्षा है या नहीं? इसका उत्तर है कि अपेक्षा है, क्योंकि यदि भरतजी उसी आनन्द में डूब जाते, यदि श्रीराम उसी आनन्द में डूब जाते, तो आनन्द केवल उन्हीं दोनों के बीच की वस्तु बनकर रह जाती। पर लोकमंगल की दृष्टि से भरतजी भी बाहर निकले और श्रीराम भी।

जो लोग प्रतीक्षा कर रहे थे, भगवान राम उनसे मिलने चल पड़े। भरतजी भी बाहर निकले। चित्रकूट में संवादों के रूप में जो अनोखा दर्शन प्रकट हुआ, उसका हर प्रसंग इतना गम्भीर है कि उसकी व्याख्या वर्षों में भी नहीं की जा सकती। वहाँ अन्तिम निर्णय यही हुआ कि अयोध्या का राज्य भरतजी ही चलायेंगे – अर्थात् समाधि की स्थिति से उतरकर व्यवहार की स्थिति, अपनी एक अद्वितीय आनन्द की स्थिति से उतरकर लोकमंगल की वृत्ति। जब यह स्थिति हो जाती है, तब इस प्रश्न का बड़े सुन्दर ढंग से समाधान हो जाता है। – कैसे? रामराज्य यदि ईश्वर के रूप में ईश्वर का राज्य है, तो श्रीराम इसमें प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देते। राम यदि प्रत्यक्ष न दिखाई दें, तो क्या वह रामराज्य हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि भरतजी अयोध्या लौटे, तब भी श्रीराम साथ में नहीं थे। पर श्रीराम के बिना भी यह जो चौदह वर्ष का राज्य चला, यही रामराज्य का सूत्र है। जहाँ राज्य तो है, पर राजा नहीं है; और जहाँ भरतजी श्रीराम से प्रार्थना करते है कि प्रभु, आप मुझे यह भार सौंप रहे हैं, पर मुझे वह आधार दीजिए, जिस पर मैं अयोध्या के राज्य का संचालन करूँ –

बिनु अधार मन तोषु न साँती ।। २/३१६/२

भरतजी ने जिस आधार की याचना की, उसी की याचना हमें भी करनी है। हम ध्यान में बैठें, पूजा में बैठें, एकाग्र हों, ईश्वर से मिलें, पर जब बाहर निकलें, तो आधार लेकर लौटें। ऐसा नहीं कि भीतर-का-भीतर ही छोड़ आयें और बाहर अपने व्यवहार में जुटकर जहाँ के तहाँ पहुँच जायँ। चित्रकूट से कुछ लेकर लौटना है। क्या लेकर लौटना है? वह ज्ञान, भक्ति, कर्म – सभी दृष्टियों से अद्भुत रहस्यपूर्ण वस्तु है। प्रभु ने क्या किया? भरतजी ने जब आधार माँगा, तो प्रभु ने वही पादुकाएँ दीं, जो भरतजी प्रभु के लिए लेकर आए थे। प्रभु ने ऐसा जान-बूझकर किया। भरतजी माँग रहे हैं कि आधार दीजिए। प्रभु कहते हैं – मैं दूँगा, तो तुम्हारी ही लाई हुई वस्तु दूँगा। कौन बतायेगा कि प्रभु अपनी वस्तु भरतजी को दे रहे हैं कि उन्हीं की वस्तु उनको दे रहे हैं।

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं ।। २/३१६/४

इस पादुका का ज्ञान की दृष्टि से भी अर्थ लें, तो पादुका क्या है? देखने में तो काठ की बनी हुई पैरों की रक्षा के लिये पहनने की वस्तु है, पर उस पादुका को जब भरतजी ने सिंहासन पर बैठाया, तो ज्ञानी उसकी क्या व्याख्या करेगा? ज्ञान की चरम पराकाष्ठा तब है, जब सारे ब्रह्माण्ड के कण-कण में ब्रह्म दिखाई देने लगे और केवल दिखाई ही न देने लगे, सबमें समान दिखाई देने लगे –

देख ब्रह्म समान सब माहीं ।। ३/१५/७

कई लोग तो बताते हैं, ब्रह्म सोलह आने इसमें है, आठ आने इसमें है और चार आने इसमें है – इस प्रकार बँटवारा कर देते हैं। यह भी एक समझाने की पद्धति है। पर यह व्यवहार की एक व्याख्या हुई, किन्तु परमार्थ की दृष्टि से ब्रह्म के टुकड़े कैसे होंगे? वह आठ आना, चार आना, दो आना, कैसे बनेगा? वह तो जहाँ रहेगा, पूर्ण ही रहेगा। उसकी पूर्णता ही तो उसका स्वरूप है। कितनी बढ़िया बात है। कोई कह सकता है कि भरतजी लौटे, पर श्रीराम नहीं लौटे। पर गोस्वामीजी कहते हैं कि उसके लिये आँखें चाहिए। भरतजी ने जो देखा, वह शुद्ध ज्ञान की दृष्टि है। गोस्वामीजी कहते हैं – प्रभु ने कृपा करके पादुकाएँ दे दीं और भरतजी ने उन्हें आदरपूर्वक सिर पर धारण कर लिया। यह आधार मिल जाने से वे परम आनन्दित हैं। उन्हें ऐसा सुख हो रहा है, जैसा श्रीराम और सीताजी के साथ रहने से होता है –

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं।
सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ।। २/३१६/४
भरत मुदित अवलंब लहे तें।
अस सुख जस सिय रामु रहे तें ।। २/३१६/८

राम में राम दिखाई देना एक बात है, पर राम की पादुका में भी साक्षात् पूर्ण राम का दर्शन उससे ऊँची बात है। व्यवहार में चलते हुए जिसको पादुका में ईश्वर दिखाई देगा, उसको संसार में प्रत्येक व्यक्ति में ब्रह्म दिखाई देगा। जब हमें सर्वत्र नारायण का ही दर्शन होगा, ब्रह्म का ही दर्शन होगा और जब हम सर्वत्र ब्रह्म को देखकर समाज का संचालन करेंगे, तब हम उपकार या दया नहीं करेंगे, अपितु उस ब्रह्म की सेवा करेंगे, पूजा करेंगे, जो सर्वत्र व्याप्त है।

भक्त लोग कहते हैं कि भरतजी विनम्रता की पराकाष्ठा हैं। प्रभु ने जब भरतजी को पादुकाएँ दीं और भरतजी ने उन्हें सिर पर रख लिया, तो प्रभु के होठों पर मुस्कुराहट आ गई। उस मुस्कुराहट में एक व्यंग्य भरा प्रश्न था – भरत, बताओ, यह तुम्हें भार मिला या आधार मिला? पादुका चरणों में पहनी जाय, तो वह आधार है और सिर पर रख लिया जाय, तो भार है। तुम तो आधार माँग रहे थे और मैंने तुम्हें भार दे दिया। पर तुम तो बड़े प्रसन्न दीख रहे हो। तुम भार उठाने योग्य हो, तो मैं तुम्हें भार ही दे रहा हूँ।

परन्तु भक्त कहता है – पादुका में भार का भी रहस्य है। प्रत्येक व्यक्ति पादुका पर भार डालता है। हम सभी अपने शरीर का सारा भार पादुका के ऊपर ही तो डालते हैं, लेकिन क्या पादुका हमारा बोझ उठाती है? यदि आप जूते या चप्पल से कहें कि 'मैं आपको बड़ा कष्ट दे रहा हूँ, आप पर अपना बोझ लाद रहा हूँ', तो वह यही उत्तर देगा कि 'आप चालिए, तो पता चलेगा कि आपका बोझ मुझे ढोना है या मेरा बोझ आपको ढोना है।' तो पैरों को ही पादुका का बोझ भी ढोना है और शरीर का बोझ भी ढोना है।

भरतजी और भक्तगण भी कहते हैं कि प्रभु ! लगता है कि जीव भार उठाए हुए है, पर पूरा भार तो प्रभु ही उठाए हुए हैं। भक्तियोग यही है कि व्यवहार चलाते समय लोगों को लगे कि अरे यह तो इतना भार उठाए हुए है, पर याद बनी रहे कि वह भार तो प्रभु ही उठाए हुए हैं।

कर्मयोग की दृष्टि से देखें, तो भरतजी ने कहा – प्रभु, आपने पादुका देकर राज्य चलाने के लिये बहुत बढ़िया सूत्र दे दिया। – क्या? पादुका पाँव में पहनने की वस्तु तो है, पर पहनते समय सावधान रहना चाहिए कि किसी दूसरे की पादुका में अपना पैर न डाल दें। गोस्वामीजी ने दोहावली में कहा – जूते के पास आँखें नहीं होने पर भी वह पैरों को इतना पहचानता है कि अँधेरे में भी यदि भूल से दूसरे के जूते में पैर चला जाय, तो जूता कह देगा कि मैं आपके नहीं हूँ।

बिनु आँखिन की पानही
लखि पहिचानत पावँ ।।

व्यक्ति सभ्य होगा, तो अपना पैर खींच लेगा और जो उसी वृत्ति से आया होगा, वह भला क्यों छोड़ने लगा। भरतजी बोले – प्रभु, आपने अयोध्या के राजपद को अपना माना होगा, तभी तो पादुका दी। पादुका तो पद के लिए दी जाती है। आपने पादुका देकर स्वीकार कर लिया कि अयोध्या का राजपद आपका है और यह पादुका आपकी है और भरत यदि इसमें अपना पैर डालेगा तो दुराचरण ही माना जायगा।

तात्पर्य यह कि संसार का व्यवहार चलाते समय यदि यह भान बना रहे कि सारी वस्तु ईश्वर की है, उसमें हम अपनी अहंता को न घुसा दें, अपनी ममता को न घुसा दें। भरतजी ने उसी पादुका को केन्द्र बनाकर चौदह वर्ष तक राज्य चलाया।

इसका निष्कर्ष यह है कि एक ओर हम अपने जीवन में ईश्वर से मिलने की चेष्टा करें और बहिरंग जीवन में उसको क्रियान्वित करने हेतु अपने जीवन में पादुकाओं को स्थापित करें, उनको अपने अन्त:करण के सिंहासन पर बैठायें।

इस तरह से रामराज्य के कुछ सूत्र दिये गये। आपके सामने यथासाध्य कुछ बातें रखी गईं। मैं आप सब लोगों के प्रति और श्रद्धेय स्वामीजी महाराज के प्रति आभार प्रगट करता हूँ कि उन्होंने स्नेहपूर्वक मुझे स्मरण किया।

जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल।
सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहउ अनुकूल ।। ७/१२४ क

– जिनका नाम तीनों प्रकार की (आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक) घोर पीड़ाओं को हरने वाला और जन्म-मरण रूपी भवरोग की अचूक औषधि है, वे कृपालु प्रभु श्री रामजी हम लोगों पर सदा प्रसन्न रहें। ❖ **(समाप्त)** ❖

सारगाछी की स्मृतियाँ (१४)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

१०-९-१९५९

सेवक बंकिमचंद्र की 'कृष्ण चरित्र' पुस्तक को पढ़ रहा था। किसी प्रसंग में महाराज जी ने बंकिमचन्द्र के 'बाबू' प्रबन्ध को पढ़ने के लिये कहा।

महाराज – देख रहे हो, कैसी समीक्षा और निरीक्षण करने की शक्ति है। इतने बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति हम लोगों में अधिक नहीं हैं। उस पुस्तक में उन्होंने सभी विषयों पर चर्चा की है। इनकी पुस्तक पढ़ने के बाद स्वामीजी की बहुत सी बातें समझना सरल हो जाता है।

एक सज्जन महाराज जी के उपयोग के लिये विदेश से एक विशेष छड़ी लाये हैं। छड़ी देखने में बहुत सुन्दर है। उन्होंने महाराज जी से कहा – महाराज जी, यह छड़ी आपके लिये लेकर आया हूँ। कृपा करके इसे ग्रहण करें।

महाराज जी ने छड़ी को हाथों में लेकर कौतुहलतापूर्ण दृष्टि से कहा – आप यह छड़ी मेरे लिये ही लाये हैं न?

उन्होंने कहा – बिल्कुल, आपके लिये ही महाराज।

महाराज – "यदि मैं आपके सामने ही इस छड़ी को तोड़ डालूँ तो?

उन्होंने चौंककर कहा – अरे! 'क्या इतनी सुन्दर छड़ी को आप तोड़ डालेंगे?

महाराज ने कहा – आपने देखा तो, आपने यह छड़ी मुझे नहीं दी है। यदि सचमुच में इसे आप मुझे दिये होते, मैं अपनी वस्तु को जो कुछ भी करूँ, आप उसके बारे में नहीं सोचते। मैं अपनी वस्तु को तोड़ सकता हूँ या नहीं?

११-९-१९५९

सेवक – स्वामीजी ने हिमालय में जाकर कहा – यहाँ पर आने से मन अन्तर्मुखी होता है। इससे समझ में आता है कि स्वामीजी संसार से कितने विरक्त – अनासक्त थे।

महाराज – विरक्त का अर्थ क्या है? हम लोग जिस अर्थ में इसका उपयोग करते हैं, यहाँ वह अर्थ नहीं है। कहा जा सकता है कि वे आसक्त नहीं थे। क्या उन्हें जगत के किसी भी चीज में आसक्ति थी, जो उन्हें वैराग्य का अभ्यास करना होगा?

१२-९-१९५९

प्रश्न – आजकल संघ में सम्मिलित होने के लिये, योगदान देने के लिए इतने नियम हैं। किन्तु पहले के महाराज जी लोग तो ऐसा नहीं करते थे?

महाराज – देखो, उस समय महाराज लोग बहुत से लोगों को संन्यासी बना देते थे। वे लोग अधिकारी पुरुष थे।

कोई-कोई सोचता है कि जो लोग ध्यान नहीं करते हैं, उन लोगों की मुक्ति नहीं होगी। हो सकता है कि कोई दिनभर कार्य करता-रहता है और कोई ध्यान एवं पाठ करते रहता है। किन्तु देखा गया है कि जो 'दिन भर कर्म करता रहता था, वह मृत्यु के समय 'जय रामकृष्ण' बोलकर शरीर त्याग दिया। अर्थात् जो कार्य में डूबा रहता था, वह जानता था कि मैं ध्यान नहीं कर सकता हूँ, किन्तु उसको दृढ़ विश्वास था कि 'मैं ठाकुर का ही कार्य कर रहा हूँ।' तुम श्रीरामकृष्ण वचनामृत में पढ़े हो न! कि ठाकुर जी मन देखते हैं।

सेवक – रामकृष्ण मिशन के कार्य में अभी जो इतना रजोगुण आया है – क्या इससे कोई क्षति होगी?

महाराज – इससे गृहस्थों का उपकार ही होता है। जितने ही भवन बनेंगे, जितना ही राजसिक कार्य होगा, उतना ही अभी देश का कल्याण होगा। किन्तु संन्यासी का जीवन अलग है। कुछ दिन कार्य करने के बाद में सम्पूर्ण रूप से अलग खड़ा होकर देखना पड़ता है कि कहाँ तक मैं स्वयं को कार्य में लिप्त कर लिया हूँ? ध्यान करने का क्या अर्थ है? केवल यह देखना है कि मन किन-किन वस्तुओं में जाकर नाचता है? क्यों मन श्रीरामकृष्ण को नहीं चाहता है? वह कौन-सी वस्तु चाहता है? क्यों वह हृदय के भीतर न जाकर बाहरी रूप, रस, शब्द, गंध एवं स्पर्श को चाहता है? जब भी देखोगे कि मन स्थिर नहीं है, तब समझना कि मन उत्तेजित हुआ है – हो सकता है कि काम से, नहीं तो क्रोध से, नहीं तो लोभ से और नहीं तो इर्ष्या से। मन को शान्त रखने की कोशिश करने का अभ्यास ही ध्यान है। अर्थात् दिनभर कार्यों के बीच में थोड़ी देर एक ऐसी वस्तु का चिन्तन करूँगा, जो प्रशान्त अर्थात् वह मेरे उद्देश्य को स्मरण करा देगी।

असली बात है स्वाभाविक होना। चलना, खाना सभी कार्यों में स्वस्थ रहना। देखो न, कोई अधिक तीखा खाता है, कोई खप-खप करके चलता है, समझना कि अवश्य ही उसका कुछ-न-कुछ कारण है।

जो लोग रजोगुणी होते हैं, वे लोग मान-यश के लिये अपना प्रचार करना चाहते हैं। देखो, मैं सच्ची बात कहता हूँ। तुम लोगों की त्रुटियाँ दिखा देता हूँ। किन्तु किसी से घृणा नहीं करता हूँ। अपने पास बुलाता हूँ, बैठाता हूँ एवं सुख-दु:ख की बातें कहता हूँ।

लोग जो कुछ भी तुम्हारी प्रशंसा करेंगे, उसे सावधानी पूर्वक लेना। क्योंकि इस संसार में तुम्हारे लिये कुछ भी ग्रहणीय नहीं है, सब कुछ त्याज्य है। यदि कभी कोई तुमको महापुरुष कह दे, तो सावधान हो जाना।

यदि तुम्हें कार्य करने का नशा हो, तो हिमालय में जाकर भी तुम्हें शान्ति नहीं मिलेगी। वहाँ जाकर भी तुम घर-मकान बनाकर झमेला खड़ा करोगे। कार्य का ऐसा नशा होता है !

२२-९-१९५९

सेवक – महाराज, आप लोगों के समय में और वर्तमान समय में आप क्या अन्तर देख रहे हैं?

महाराज – देखो, तुम लोगों को बहुत सी सुविधायें हैं। देश स्वाधीन हुआ है, चारों ओर पढ़ाई-लिखाई – शिक्षा के क्षेत्र में विकास करने की इच्छा हो रही है। अनुकूल परिवेश है। मुझे शिक्षा प्राप्त करने में कितनी कठिनाई झेलनी पड़ी।

सेवक – महाराज, क्या ज्योतिष-शास्त्र की चर्चा करना हम लोगों के लिये उचित है?

महाराज – देखो, एकदिन बाद हमलोगों का क्या होगा, कह नहीं सकते हैं। फिर हम लोग इस बुद्धि को लेकर डींग हाँकते हैं। संन्यासी के लिये ज्योतिष-शास्त्र आदि निषेध है, क्योंकि उन सब में कण मात्र सत्य रहता है। इस सम्बन्ध में एक कहानी है – योगी ने कहा कि राजा की अमुक दिन मृत्यु होगी। इसके बाद मंत्री ने योगी से प्रतिप्रश्न करके जान लिया कि योगी की मृत्यु बीस साल बाद होगी। किन्तु मंत्री ने उसका गला काट कर दिखा दिया कि गणना गलत है।

सेवक – कैसे मन गुरु हो जाता है?

महाराज – यदि तुम्हारा ईष्ट में अधिक प्रेमाकर्षण है, तो तुम्हारा मन इष्ट-प्रेम को छोड़कर अन्य किसी में भी जाना नहीं चाहेगा। अर्थात् मन अच्छी वस्तु ही लेगा। तभी मन गुरु बन जाता है। तुम लोगों को विश्वास रखना चाहिये – मैं श्रीरामकृष्ण का आश्रय लिया हूँ, फिर मुझे क्या चिन्ता है? ईश्वर की इच्छा से सब हो रहा है। ईश्वर सब सजे हैं, इसलिये अपने कर्तव्य की उपेक्षा करने से नहीं चलेगा। जब तक हम देह के भीतर हैं, तब तक हमें वे सब बातें कहने का अधिकार नहीं है।

प्रश्न - देहातीत अवस्था कैसी होती है?

महाराज – यह गाड़ी में चढ़ने एवं उतरने जैसी है। जब तक गाड़ी में हो, तब तक शरीर के सुख-दुख का बोध कर रहे हो। गाड़ी से उतरते ही आत्मानन्द – स्वराट ! ठाकुरजी एवं श्रीमाँ प्राय: ही इस अवस्था में चले जाते थे और आनन्द-बोध करते थे – परम आनन्द ! माँ दिनभर सब्जी काटती थीं और बीच-बीच में कहती थीं कि ''मैं यह क्या कर रही हूँ !''

किन्तु वे लोग वहाँ भी जा सकते थे और यहाँ भी आ सकते थे। उन लोगों का शरीर शुद्ध सत्त्व एवं काम-क्रोध से मुक्त था। हमलोग एकबार वहाँ जाकर उस आनन्द के बाजार को छोड़ कर, क्या इस नरक में पुन: आयेंगे?

सेवक – गीता (९/२९) में है – '**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः**' और पुन: (१६/१९) में कहते हैं – '**क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु**', तो अब इन दोनों परस्पर विरूद्ध भावों का समन्वय कैसे करूँगा?

महाराज – यह सब आपेक्षिक सत्य है। एक स्तर में लगता है – क्षिपाम्यहम् और दूसरे स्तर में देखा जाता है कि कोई किसी को भी क्षेपण नहीं करता है।

दोपहर के समय महाराज जी को उठाते समय सेवक से उनका कुर्ता फट गया। सेवक दुखित होकर चुपचाप खड़ा है।

महाराज – उससे, क्या हुआ? संन्यासी का वस्त्र फटा रहेगा, उससे क्या हुआ? फटी कंथरी मुंडित सिर। उस दिन एक छोटी सी बच्ची अपनी-माँ के साथ आयी थी। मैंने उस बच्ची से पूछा कि क्या तू यहाँ रहेगी? उसने अपनी माँ का गला जकड़ कर कहा – ''यदि माँ रहेगी।'' ईश्वर के प्रति इस प्रकार का प्रेम, आकर्षण चाहिये। बहुत ध्यान से सुन कर रखो – आध्यात्मिक जीवन सम्पूर्ण रूप से मन का ही खेल है। आन्तरिक जीवन लोक-प्रदर्शन के लिये नहीं है – शिखा रखना एवं गेरुआ वस्त्र पहनना उद्देश्य नहीं है, ये सब केवल साधन हैं। सांसारिक विषयों की उपेक्षा करनी होगी। मान लो, तुमने रास्ते पर विष्टा देखा, तो क्या तुम उसे हिला कर देखोगे अथवा उधर से दृष्टि हटाकर चले जाओगे? उसी प्रकार जगत् में कुछ खराब देखने पर उस पर विचार न करते हुये उदासीन होने की कोशिश करो। तुम लोगों की उम्र कम है। यदि तुम लोग चाहो, तो इसी क्षण ईश्वर की अनुभूति हो सकती है। सम्पूर्ण मन एवं इन्द्रियों को एकाग्र करने से ही हुआ – ''**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्**।'' मन को हृदय की गहराई में ले जाना है। ईश्वर-प्राप्ति केवल अनुभव करना ही है, दूसरा कुछ नहीं। बचपन में हमलोगों के गाँव में एक सुन्दर युवक था। कोई-कोई उसके चरित्र की आलोचना करते थे। एक दिन उसने कहा – मैं तो अस्सी वर्ष तक भोग करना चाहता हूँ। इसलिये मुझे अभी संयम से रहना होगा। मैं तो यह बात सुनकर चौंक गया। अरे बाप रे! भोग करने के लिये संयमी होना पड़ता है, तो ईश्वर-चिन्तन करने के लिये और भी कितनी शक्ति लगेगी! वहाँ पर कितने संयम की आवश्यकता है! एकदिन मन को बलपूर्वक ईष्ट में लगा कर देखो न, कितनी शक्ति लगती है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी विवेकानन्द और प्रबुद्ध नागरिकता

अश्विनी कुमार

(लेखक इन्डस क्वालिटी फाउंडेशन, नई दिल्ली के अध्यक्ष हैं। प्रस्तुत लेख अंग्रेजी मासिक 'वेदान्त-केसरी' के मई, २०१३ अंक में प्रकाशित हुआ था। लेख की प्रासंगिकता को देखते हुए 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसका हिन्दी अनुवाद वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने किया है। – सं.)

स्वामी विवेकानन्द का जन्म १८६३ ई. में हुआ। स्वामीजी के जन्म के लगभग १०० वर्ष पूर्व १७५७ ई. में. ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत में अपनी जड़ें जमाकर पकड़ को मजबूत करना आरम्भ किया। स्वामीजी के जन्म के ६ वर्ष पूर्व, १८५७ ई. में हुए प्रथम भारतीय स्वाधीनता संग्राम के उपरान्त, ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन ब्रिटिश साम्राज्य ने अपने हाथ में ले लिया। अपने १०० वर्षों के आधिपत्य-काल में अंग्रेजों ने एक समृद्धिशाली और सांस्कृतिक रूप से सुसम्पन्न भारत को एक ऐसी दयनीय निर्धनता की दशा में पहुँचा दिया कि यहाँ के लोग संसार के सर्वाधिक बेरोजगार, उद्यमहीन तथा अशिक्षित हो गये। विश्व-इतिहास के विख्यात लेखक विल डुराण्ट लिखते हैं –

"भारत हमारी (यूरोपीय) जाति की मातृभूमि है। संस्कृत यूरोपीय भाषाओं की माता थी। वह हमारे दर्शन-शास्त्र की माता थी। अरबी लोगों के माध्यम से वह हमारे अधिकांश गणित-विद्या की माता थी। बुद्ध के माध्यम से वह ईसाई धर्म में प्रतिपादित आदर्शों की माता थी। ग्रामीण समुदायों के जरिये, वह स्व-शासन तथा लोकतंत्र की माता थी। भारत माता अनेक रूपों में हम सभी की माता है।"[१]

विल डुराण्ट आगे लिखते हैं कि कहीं भी मौजूद और अपनी उपादेयता या सुन्दरता के लिये मूल्यवान तथा सभ्य संसार में ज्ञात लगभग हर प्रकार के निर्माण या उत्पाद अनेक वर्षों पूर्व भारत में ही तैयार किये जाते थे। भारत यूरोप अथवा एशिया के किसी अन्य देश की तुलना में विशालतर औद्योगिक और उत्पादन करनेवाला राष्ट्र था। भारत के हथकरघों पर निर्मित उत्कृष्ट सूती, ऊनी, तथा रेशमी वस्त्र समूचे सभ्य संसार में प्रसिद्ध थे। वैसे ही भारत के उत्कृष्ट आभूषण, हर तरह के सुन्दर कीमती रत्न-माणिक्य; और वैसे ही विविध प्रकार के रंगों, सुन्दर आकारों तथा गुणवत्ता युक्त भारत के मिट्टी तथा चीनी मिट्टी के बर्तन भी विश्व-विख्यात थे। अंग्रेजों ने भारत में आकर इसे ऐसा ही पाया था।

परन्तु उपनिवेशवादी शासकों ने भारत के साथ क्या किया? १८८९ ई. से १८९३ के दौरान, जब स्वामी विवेकानन्द ने एक परिव्राजक संन्यासी के रूप में पूरे देश का भ्रमण किया, तो उन्होंने जो कुछ भी देखा, उससे उनका हृदय अभिभूत हो उठा। अपने इस भ्रमण के दौरान स्वामीजी को उस गौरवशाली भारत की सुस्पष्ट धारणा हुई, जिसका विल डुराण्ट ने इतने उदात्त शब्दों में वर्णन किया है। स्वामीजी ने इसे 'सनातन भारत' कहा है, पर उनका सामना वर्तमान से हुआ था, उस भारत से, जो अत्यन्त दयनीय हालत में था।

जब अंग्रेज यहाँ आए, तो भारत आर्थिक तथा सांस्कृतिक रूप से एक उन्नतिशील देश था। किन्तु राजनैतिक रूप से भारतीय लोग दुर्बल तथा बँटे हुए थे। भारतीयों में राजनैतिक एकता के अभाव के कारण ही विदेशी आक्रान्ताओं ने एक हजार वर्ष से भी अधिक काल तक उन पर शासन किया। इसका परिणाम हुआ सामाजिक पिछड़ापन, जनता की उपेक्षा और बाहरी दुनिया से सब प्रकार से सम्पर्क-भंग। इतिहास के एक गम्भीर अध्येता के रूप में भारत का आँखों-देखा अनुभव रखनेवाले स्वामी विवेकानन्द ने महसूस किया कि ये सब बातें ही भारत के अध:पतन की कारण थीं।

सामाजिक क्षेत्र में आध्यात्मिकता

आधुनिक भारत में जिन महान् विभूतियों ने जन्म लिया, उनमें स्वामीजी ने ही सर्वप्रथम घोषणा की कि भारतीय मानस की जड़ें आध्यात्मिकता में निबद्ध हैं। स्वामीजी के कथनानुसार यदि भारत आध्यात्मिकता की उपेक्षा करता है, तो उसका राष्ट्रीय जीवन समाप्त हो जायेगा। स्वामीजी के गुरु भगवान श्रीरामकृष्ण एक बार फिर इस आध्यात्मिकता को भारतीय जनजीवन का अंग बनाना चाहते थे। उन्होंने कहा था, "परमहंस दो तरह के हैं। ज्ञानी परमहंस और प्रेमी परमहंस। जो ज्ञानी हैं, उन्हें अपने काम से काम। जो प्रेमी हैं, जैसे शुकदेव आदि, वे ईश्वर को प्राप्त करके फिर लोक-शिक्षा देते हैं। कोई अपने आप ही आम खाकर मुँह पोंछ डालता है और कोई और पाँच आदमियों को खिलाता है। कोई कुआँ खोदते समय टोकरी और कुदाल अपने घर उठा ले जाते हैं; कोई कुआँ खुद जाने पर टोकरी और कुदाल उसी कुएँ में डाल देते है; कोई दूसरों के लिए रख देते हैं, ताकि पड़ोसियों के भी काम आ जाय। शुकदेव आदि ने दूसरों के लिए टोकरी और कुदाल रख दी थी। तुम भी दूसरों के लिए रखना।"[२]

भारत को अधिकाधिक प्रेमी महात्माओं की आवश्यकता है। व्यक्ति में ज्ञानी बनने की ही प्रवृत्ति स्वाभाविक है। जब हम श्रीरामकृष्ण के साथ स्वामी विवेकानन्द की भेंट के बारे में पढ़ते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामीजी श्रीरामकृष्ण

१. The Case for India, p. 3

२. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, नागपुर, सं. १९९९, खण्ड २, पृ. ७९९

से आध्यात्मिक अनुभूति कराने के लिये आग्रह कर रहे थे। श्रीरामकृष्ण ने पूछा – तुम क्या चाहते हो। स्वामी विवेकानन्द ने उत्तर दिया कि वे निर्विकल्प समाधि में डूबे रहना चाहते हैं और बीच-बीच में थोड़ा भोजन ग्रहण करने हेतु समाधि से नीचे उतरना चाहते हैं। श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र को फटकार लगाई और बोले – मैं तो सोचता था कि तू एक विशाल वटवृक्ष के समान होगा, जिसके नीचे हजारों दुखी-पीड़ित लोग आश्रय प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने भारतीय आध्यात्मिकता को एक नवीन और पथ-निर्माणकारी दिशा प्रदान की। वह भारत की कोई प्रचलित परम्परा नहीं थी। यह बात इसी से स्पष्ट हो जाती है कि स्वामी विवेकानन्द के अपने ही गुरुभाइयों ने प्रारम्भ में इस भावधारा पर असहमति के स्वर उठाये थे। उनके गुरुभाइयों ने सोचा कि निर्धनों और दलितों की सेवा की बात कहकर स्वामी विवेकानन्द श्रीरामकृष्ण के उपदेशों से कुछ भिन्न मार्ग पर ले जाने का प्रयास कर रहे थे। उन लोगों के मतानुसार श्रीरामकृष्ण ईश्वरानुभूति की प्रधान साधना के रूप में जप-ध्यान-प्रार्थना आदि पर अधिक बल देते थे।

पर आधुनिक मानस के लिये स्वामीजी द्वारा आदर्श शीघ्र ही सुस्पष्ट हो गया। सभी प्रकार के तर्क-प्रतिवाद और विवादों को विराम देकर स्वामीजी ने रामकृष्ण मिशन के ध्येय-वाक्य 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' (अपनी मुक्ति और जगत् के कल्याण हेतु) में ही अपना सन्देश निबद्ध कर दिया। स्वामीजी के जीवन के आलोक में यह कहा जा सकता है कि संसार के कल्याण में हमारी मुक्ति निहित है। यदि कोई 'प्रबुद्ध नागरिक' की सच्ची परिभाषा चाहता है, तो उसे स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रस्तुत इस अद्भुत ध्येय-वाक्य में ही मिल जायेगी। स्वामीजी ने आध्यात्मिकता के साथ सेवा को जोड़ दिया और यही प्रबुद्ध नागरिकता का आदर्श है।

आज के दौर में प्रबुद्ध नागरिकता

प्रबुद्ध नागरिकता की हमें क्या जरूरत है? वास्तविकता तो यह है कि दो प्रकार के भारत हैं – 'सनातन भारत', जैसा कि वह हजार वर्ष के पूर्व के अनेक शताब्दियों तक सर्वाधिक गौरवशाली ढंग से अस्तित्व में था और दूसरा आज चतुर्दिक दृश्यमान 'वर्तमान भारत', जिसमें भ्रष्टाचार, अराजकता, गरीबी, निरक्षरता, अव्यवस्था और घोटालों का बोलबाला है। पूर्व के 'सनातन भारत' की पुन: स्थापना के लिये हमें प्रबुद्ध नागरिकों की जरूरत होगी। इसके लिये हमें जिस जीवन-दर्शन तथा समझ का विकास करना होगा, वह भारतीय इतिहास तथा भारतीय जरूरतों को केन्द्र में रखकर ही किया जा सकता है।

यदि हम भारत की समृद्ध आध्यात्मिक और सांस्कृतिक परम्परा की ओर दृष्टिपात करें, तो देखेंगे कि नागरिकता हमारे लिये कोई नई चीज नहीं है। प्राचीन काल में भारत में अनेक गणराज्य थे। भागवत पुराण में लिखा है कि मथुरा एक गणराज्य था, जहाँ लोग अपना नेता चुना करते थे। कंस उस व्यवस्था को बदलकर तानाशाह बन बैठा। यदि हम कंस का काल-निर्धारण करने का प्रयास करें, तो हमें करीब ५००० वर्ष पूर्व जाना होगा। परन्तु यदि हम १००० ई. के बाद का अपना इतिहास देखते हैं, तो हमें अनेक छोटे-छोटे रजवाड़े मिलते हैं, जिसमें से अनेक छोटे राज्य आपसी संघर्ष करके, अपने ही देशवासियों को हराने के लिये षड्यंत्र करके विदेशी आक्रान्ताओं की मदद करते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने इसका मूल कारण आपसी ईर्ष्या में देखा, जिसे उन्होंने 'दासता की निशानी' बताया।

१९४७ ई. में भारतवर्ष राजनैतिक और आर्थिक रूप से स्वाधीन हो गया। भारत के दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन के पश्चात् सरदार वल्लभभाई पटेल की प्रतिभा और दृढ़ इच्छाशक्ति के बूते लगभग ५४२ रियासतें एक गणराज्य के रूप में एकीभूत हुईं। इसका निहितार्थ यह है कि अभी कुछ काल पूर्व तक हम किसी राजा की प्रजा मात्र बनकर रहने के अभ्यस्त थे। स्वतंत्र नागरिक बनकर अपनी सरकार को चुनने के अधिकार के उपयोग की शुरुआत करीब ७० वर्षों पूर्व ही हुई। यद्यपि हमें राजनैतिक नागरिकता प्राप्त है, तथापि प्रबुद्ध नागरिकता का विकास अभी हमें करना है, अर्थात् – ऐसे जिम्मेदार और प्रबुद्ध नागरिक बनना है, जो स्वकल्याण तथा दूसरों के कल्याण में योगदान कर सकें (आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च)। अपनी अभूतपूर्व आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विरासत को बचाये रखने तथा एक राष्ट्र के रूप में इसकी अन्तर्निहित महानता को प्रकट करने के लिये यह अति आवश्यक है।

स्वामी विवेकानन्द का चरित्र और साहित्य 'प्रबुद्ध नागरिकता' और उनकी गहन संवेदना के परिचायक दृष्टान्तों से भरा पड़ा है। १८९८ ई. में हुई एक ऐसी ही घटना का वर्णन करते हुए स्वामीजी के एक गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द ने लिखा है, "स्वामीजी ऐसे ही आनन्दमय व्यक्ति थे। सहसा एक दिन सुबह वे गम्भीर हो गए। दिन भर उन्होंने न कुछ खाया और न किसी से कोई बातचीत की। तत्काल चिकित्सक को बुलवाया गया, पर वे भी रोग का पता नहीं लगा सके। स्वामीजी दिन भर तकिए पर सिर रखे पड़े रहे। तभी मैंने सुना कि कलकत्ते में प्लेग की महामारी फैलने के कारण वहाँ की तीन-चौथाई जनता महानगर को छोड़ चुकी है। इसी कारण स्वामीजी इतने गम्भीर हो गये थे। स्वामीजी ने उस समय कहा, 'यदि हमें सब कुछ बेचना पड़े, तो भी हमें लोगों की सेवा करनी है। हम तो केवल वृक्षों के नीचे रहनेवाले परिव्राजक संन्यासी हैं। हम पेड़ के नीचे रह लेंगे।' "

"३ मई को स्वामीजी कलकत्ते पहुँचे, यद्यपि उनका

स्वास्थ्य ठीक न था। उन्होंने सोचा कि अपने देशवासियों की कैसे मदद की जाय। जनता प्लेग एवं उससे जुड़े सरकारी आदेशों से घबराई हुई थी। कलकत्ता में मानो एक ही तूफान आने वाला था। लोग घबराकर भाग रहे थे। दंगा रोकने के लिये सेना बुलायी जा चुकी थी। स्वामीजी ने तत्काल स्थिति की गम्भीरता को भाँप लिया। बेलुड़ मठ में आते ही उन्होंने बँगला और हिन्दी में प्लेग-निवारण का घोषणा-पत्र तैयार किया। पीड़ित लोगों की मदद हेतु वे तुरन्त राहत-कार्य शुरू करना चाहते थे। जब एक साधु ने उनसे पूछा, "स्वामीजी धन कहाँ से आयेगा?" इस पर उन्होंने सहसा अपना कठोर निर्णय सुना दिया, "क्यों? जरूरत हुई तो हम बेलूड़ मठ की नई खरीदी गई जमीन को बेच डालेंगे।"[३]

सौभाग्यवश ऐसा गम्भीर कदम उठाने की जरूरत नहीं पड़ी, क्योंकि बाद में आर्थिक सहायता आने लगी थी।

स्वामीजी के प्रेरणादायी शब्दों में

दूसरों के कष्टों के प्रति स्वामीजी की तीव्र संवेदना के द्योतक उनकी कुछ सुपरिचित उक्तियों को यहाँ उद्धृत किया जा सकता है –

"सबसे पहले सर्वत्र जो भयंकर हाहाकार मचा हुआ है, उसके निवारणार्थ – एक मुट्ठी अन्न के लिए, स्वदेशवासियों के आर्तनाद को बन्द करने के लिए प्रयास करो, उसके बाद मेरे पास वेदान्त पर विचार करने आना। वेदान्त धर्म का सार-मर्म यही है कि अन्नाभाव से मृतप्राय लोगों की प्राणरक्षा के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देना होगा।[४]

"जब तक मेरे देश का एक कुत्ता भी भूख से पीड़ित है, तब तक उसे खिलाना तथा उसकी देखभाल करना ही मेरा धर्म होगा, बाकी सब या तो अधर्म है अथवा मिथ्या धर्म![५]

"व्यावहारिक देशभक्ति का अर्थ केवल एक भावना या देश के प्रति प्रेमभाव मात्र नहीं होता, अपितु अपने देशवासियों के प्रति एक आवेगपूर्ण सेवा-भाव है। ... कर्मवाद की बातें करना व्यर्थ है। यदि कष्ट उठाना उनके कर्मफल से है, तो उस कष्ट को दूर करना हमारे कर्म में है। ईश्वर को पाना है, तो मनुष्य की सेवा करो। नारायण तक पहुँचने के लिए दरिद्र-नारायण की – भारत के करोड़ों भूखे लोगों की सेवा करनी होगी।[६]

उसी को मैं महात्मा कहता हूँ, जिसका हृदय गरीबों के लिए रोता है, अन्यथा वह तो दुरात्मा है। ... जब तक करोड़ों भूखे और अशिक्षित रहेंगे, तब तक मैं प्रत्येक उस आदमी को विश्वासघातक समझूँगा, जो उनके खर्च पर शिक्षित हुआ है, परन्तु जो उन पर तनिक भी ध्यान नहीं देता![७]

"यह जीवन क्षणस्थायी है, संसार के भोगविलास की चीजें भी क्षणभंगुर हैं। वे ही लोग यथार्थ में जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीवन धारण करते हैं। बाकी लोगों का जीना तो मृत्यु से भी बदतर है।[८]

उपर्युक्त कुछ पंक्तियों में स्वामीजी ने सच्ची प्रबुद्ध नागरिकता के आदर्श को विस्तार से प्रस्तुत किया है।

प्रबुद्ध नागरिकता क्या है?

निम्नलिखित घटना प्रबुद्ध नागरिकता के आदर्श का उत्तम ढंग से चित्रण करती है।

सुविख्यात गांधीवादी और सर्वोदय आन्दोलन के नेता विनोबा भावे एक अत्यन्त धार्मिक व्यक्ति थे। वे बद्री-विशाल को अपना इष्टदेव मानते थे। उन्होंने हिमालय में स्थित बद्रीनाथ की कई बार तीर्थयात्रा की। एक बार काफी वृद्ध होने पर भी वे बद्रीनाथ गए और वह सम्भवत: उनकी वहाँ की अन्तिम बार यात्रा थी। उन दिनों यह यात्रा दुर्गम थी। वहाँ सड़कें नहीं थीं, अत: पैदल ही पहाड़ों की चढ़ाई करनी पड़ती थी।

वहाँ जाते हुए एक जगह विनोबाजी ने देखा कि कुछ मजदूर सड़क बनाने हेतु पत्थर तोड़ रहे थे। उन्होंने एक मजदूर से पूछा, "आप क्या कर रहे हैं?"

उस मजदूर ने उद्दण्डतापूर्वक उत्तर दिया, "क्या तुम देख नहीं रहे हो कि मैं पत्थर तोड़ रहा हूँ?"

विनोबाजी ने पूछा, "तुम पत्थर क्यों तोड़ रहे हो?"

मजदूर ने क्रुद्ध होकर कहा, "पैसे कमाने के लिये, पेट भरने के लिये।"

थोड़ी दूर आगे जाकर विनोबाजी ने एक अन्य मजदूर से पूछा, "आप क्या कर रहे हैं?"

मजदूर ने उत्तर दिया, "क्या आप देखते नहीं? मैं पत्थर तोड़ रहा हूँ।" विनोबाजी के यह पूछने पर कि वह पत्थर क्यों तोड़ रहा था, उस मजदूर ने बताया कि वह अपने परिवार के भरण-पोषण हेतु पत्थर तोड़ रहा है।

विनोबाजी के सहयात्री श्रद्धालुओं को इस बात पर आश्चर्य हुआ कि ये क्यों इन तुच्छ मजदूरों से बातें करके स्वयं अपमानित हो रहे हैं! अब उनकी टोली बद्रीनाथ के काफी निकट पहुँच चुकी थी। पत्थर तोड़ रहे एक अन्य मजदूर पर विनोबाजी की दृष्टि पड़ी। उन्होंने उसके पास जाकर पूछा, "आप क्या कर रहे हैं?" मजदूर ने बड़ी विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "बाबाजी, मैं पत्थर तोड़ रहा हूँ।"

३. The Life of Swami Vivekananda, Vol. 2, p. 328

४. युगनायक विवेकानन्द, नागपुर, सं. २००५, खण्ड ३, पृ. १६७

५. वही, पृ. १६६

६. The Life of Swami Vivekananda, Vol. 1, p. 338

७. भारत और उसकी समस्याएँ, नागपुर, पृ. ५७

८. मैसूर के महाराजा को लिखित २३ जून, १८९४ के पत्र से

जब विनोबाजी ने पूछा कि वह पत्थर क्यों तोड़ रहा है, तो उसने शालीनता के साथ उत्तर दिया, "मैं यह सड़क इसलिये बना रहा हूँ, ताकि आप लोगों को बद्रीनाथ पहुँचने में अधिक कष्ट न उठाना पड़े।"

विनोबाजी ने उस मजदूर का आलिंगन करते हुए कहा कि अब वे शान्तिपूर्वक मर सकेंगे, क्योंकि देश में कम-से-कम एक 'प्रबुद्ध नागरिक' तो है।

इस घटना से यह संकेत मिलता है कि व्यक्ति एक नागरिक के रूप में तीन स्तरों पर कार्य कर सकता है।

* पहले स्तर पर वह मात्र अपने बारे में चिन्ता करता है।
* दूसरे स्तर पर उसके लिये परिवार की चिन्ता सर्वोपरि है।
* तीसरे स्तर पर वह अपने लिये कार्य करता हुआ, परिवार का भी ध्यान रखता है, परन्तु मन-ही-मन वह यह भी सोच रहा है कि उसके कार्य से दूसरों का भी कल्याण होगा।

पहला स्तर पशु का स्तर है, दूसरा 'प्रबुद्ध' पशु का स्तर है और तीसरा दैवी स्तर है।

गीता की भाषा में – पहला तामसिक स्तर है। प्रकृति में तीन गुण हैं – सत्त्व, रजस् और तमस्। तमस् की विशेषता है – अन्धकार, आलस्य, निष्क्रियता। यह पशु-स्तर के अति निकट है। रजस् की विशेषता है – सक्रियता, यह प्रबुद्ध पशु का स्वभाव है। सत्त्व – समता तथा ज्ञान का द्योतक है, यह तमस् और रजस् से परे है। 'पेट भरने मात्र के लिये' कार्य कर रहे मजदूर तामसिक स्तर पर हैं। 'परिवार के लिये' कार्य करनेवाले राजसिक स्तर पर हैं। 'दूसरों के सुख-आराम का ध्यान रखनेवाले' तीसरे प्रकार के मजदूर सात्त्विक स्तर पर हैं। चेतना के स्तरों को उन्नत करने में – तमस् से रजस्; और रजस् से सत्त्व में उन्नीत होने में ही एक 'प्रबुद्ध नागरिक' में परिणत होने का भाव निहित है।

प्रबुद्ध नागरिकों का निर्माण

प्रबुद्ध नागरिकों के निर्माण का कार्य जीवन के प्रारम्भ से ही शुरू हो जाना चाहिये। यह हमारे पालन-पोषण तथा शिक्षा का अंग बन जाना चाहिये। व्यक्ति का सम्पूर्ण रूपान्तरण या कायाकल्प कोई आसान काम नहीं है।

आन्तरिक परिवर्तन कैसे घटित होता है? आदि शंकराचार्य कहते हैं कि यह क्रम-अघातवत् अर्थात् दीर्घकाल में क्रमश: होता है। वे एक ऐसे श्रमिक का दृष्टान्त देते हैं, जो छेनी-हथौड़ी द्वारा चट्टान को काटने का प्रयत्न कर रहा है। हथौड़ी द्वारा छेनी पर सौवीं बार प्रहार से चट्टान टूट जाती है। तो क्या उसके पहले ९९ बार किए गए प्रहार आवश्यक नहीं थे। निश्चय ही बहुत आवश्यक थे; उनके बिना चट्टान कभी नहीं टूटती। इसी प्रकार पातंजल योगसूत्र कहता है – **स तु दीर्घ-काल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः** – दीर्घकाल तक परम श्रद्धा तथा आनन्द के साथ निरन्तर चेष्टा करने पर मन में परिवर्तन आता है। बाह्य परिवर्तन आने के पूर्व आनेवाला आन्तरिक परिवर्तन धीरे-धीरे अर्थात् समयसाध्य होता है। केवल व्याख्यान सुनने, लेख या पुस्तकें पढ़ने से ही इसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके लिये लम्बे समय तक अभ्यास अपेक्षित है, जैसा कि स्वामीजी बताते हैं –

"सदा सत्कर्म करते रहो, सर्वदा पवित्र चिन्तन करो; बुरे संस्कारों को रोकने का बस, यही उपाय है। ऐसा कभी न कहो कि अमुक व्यक्ति के उद्धार की कोई आशा नहीं है। क्यों? इसलिए कि वह व्यक्ति केवल एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का – कुछ आदतों का समूह मात्र है; और ये आदतें नयी तथा अच्छी आदतों से दूर की जा सकती हैं। चरित्र बस, बारम्बार अभ्यास की समष्टि है और इस प्रकार का पुन: पुन: अभ्यास से ही चरित्र का सुधार किया जा सकता है।"[९]

प्रबुद्ध नागरिकों के निर्माण के लिये एक अन्य महत्वपूर्ण तत्त्व चाहिये – **त्रिभिः एत्य सन्धिम्**[१०] – तीन अत्यावश्यक व्यक्तियों – माता, पिता और शिक्षक का संयोग। माँ को वर्धमान शिशु को पवित्रता अर्थात् उचित-अनुचित की विचार-पद्धति सिखानी होगी। पिता को अनुशासन का भाव भरना होगा। जब ये दोनों मौजूद होंगे, केवल तभी तीसरे व्यक्ति अर्थात् शिक्षक के निर्देश प्रभावी होंगे।

यद्यपि ये तीनों जरूरी हैं, पर प्रारम्भ में हमें स्पष्ट लक्ष्य तथा समुचित दृष्टिकोण रखनेवाले प्रशिक्षित और सेवाभावी व्यक्तियों तथा शिक्षकों का निर्माण करने की आवश्यकता है। छात्रों को 'प्रबुद्ध नागरिकों' में रूपान्तरित करने हेतु स्कूलों तथा कॉलेजों में मानव-उत्कृष्टता-केन्द्रों की स्थापना की जरूरत है। इच्छाशक्ति का एकत्रीकरण आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द ने एक शताब्दी से भी अधिक काल पूर्व कहा था –

"इच्छा शक्ति ही अमोघ शक्ति है। ... क्या कारण है कि मात्र चार करोड़ अँग्रेज हमारे तीस करोड़ लोगों पर शासन करते हैं? इस प्रश्न का मनोवैज्ञानिक समाधान क्या है? यही कि वे चार करोड़ लोग अपनी-अपनी इच्छाशक्ति को जोड़कर एक कर देते हैं अर्थात् शक्ति का अनन्त भण्डार बना लेते हैं और हम तीस करोड़ लोग अपनी-अपनी इच्छाओं को एक-दूसरे से पृथक किये रहते हैं।... अत: यदि भारत को महान् बनना है, उसका भविष्य उज्ज्वल होना है, तो इसके लिए जरूरत है – संगठन की, शक्ति-संग्रह की और बिखरी हुई इच्छाशक्ति को एकत्र कर उसमें समन्वय लाने की।"[११] ❑

९. विवेकानन्द साहित्य, कलकत्ता, सं. १९६३, खण्ड १, पृ. १२३
१०. कठोपनिषद्, १-१-१७
१०. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. १९१-९२

मेरे जीवन में माँ की कृपा

हरेन्द्रनाथ दासगुप्त

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

मेरा जन्म १८९९ ई. १९ मार्च को फरीदपुर जिले के काशातली ग्राम में हुआ था। मेरे पिता फरीदपुर कोर्ट में वकील थे, परन्तु उस कार्य में झूठ बोलना पड़ता था, अत: उन्होंने वकालती छोड़ दी। खेती-बारी से जो आमदनी हो जाती, उसी से हम लोगों की गृहस्थी भलीभाँति चल जाती थी। परिवार में दुर्गापूजा, कालीपूजा, होली तथा गृहदेवता लक्ष्मी-गोविन्द की नित्य-सेवा होती थी। स्कूली शिक्षा समाप्त कर मैं कॉलेज में पढ़ने के लिये कलकत्ते गया। वहाँ सुरेन्द्रनाथ कॉलेज में पढ़ते समय मैं अपने कई सहपठियों के साथ एक मेस में रहता था। पढ़ाई-लिखाई के साथ-साथ हम लोग स्वामीजी के आदर्श पर चलकर समाज-सेवा भी करते थे। उन दिनों यदि कोई टी.बी. या हैजे से मर जाता, तो कोई उसके दाह-संस्कार में हाथ नहीं लगाता। हम इन सब कार्यों में सदैव आगे बढ़कर हाथ बँटाते। एक दिन निमतला घाट पर एक टी.बी. के रोगी के मृतदेह का दाह करने के बाद गंगास्नान करके भीगे कपड़ों में ही रात को दो बजे मेस लौट रहा था। उस समय कलकत्ता की सभी सड़कों पर स्ट्रीट लाइट नहीं थी। अँधेरी सड़क पर लोगों का आना-जाना बन्द हो चुका था। स्वामीजी के आदर्श पर चलते हुए निर्भीक रहना सीखा था – बिना किसी भय के टी.बी. तथा हैजे से मृत्यु को प्राप्त लोगों का दाह-संस्कार किया है। लेकिन उस दिन अँधेरी रात में सड़क पर अकेले लौटते समय मन में न जाने कैसा एक अज्ञात भय लग रहा था। सहसा लगा कि कोई मेरे पीछे-पीछे चला आ रहा है। मैंने पीछे मुड़कर देखा – अन्धकार में ऐसा समझ में आया कि सफेद साड़ी पहने एक महिला पीछे-पीछे चली आ रही है। उसके सिर पर घूंघट था। इतनी रात गये इस निर्जन सड़क पर यह महिला अकेले कहाँ जा रही है? मन में विचित्र-सा आतंक उठा। मैं तेजी से चलने लगा।

स्वामीजी की किताबें पढ़कर ठाकुर के प्रति आकर्षण का बोध होता था। उन्हें भगवान मानकर उनकी श्रद्धा-भक्ति करता था। तब तक माँ को देखा नहीं था, पर उनके बारे में सुना था। बेलूड़ मठ में आना-जाना था। इसीलिये जानता था कि माँ साक्षात् जगदम्बा हैं। अँधेरे रास्ते में एक महिला को इस प्रकार अपने पीछे आते देखकर मन-ही-मन ठाकुर और माँ को पुकारने लगा। थोड़ी देर बाद पुन: पीछे मुड़कर देखा – वे महिला अब भी पीछे-पीछे चली आ रही थीं। मृतदेह का दाह-संस्कार करके लौट रहा हूँ, निर्जन रास्ता है, धुप अँधेरा है और मेरे पीछे श्वेत वस्त्रों में एक अकेली महिला चली आ रही है ! यह क्या कोई प्रेतात्मा है? मुझे और भी अधिक भय लगने लगा। अपनी पूरी शक्ति लगाकर, जोर-जोर से 'जय ठाकुर ! जय माँ ! बोलते हुए आगे बढ़ने लगा। बाद में तो मैं लगभग दौड़ने ही लगा। अन्त में मेस के सामने आकर डरते-डरते फिर पीछे मुड़कर देखा। वह महिला दिखाई नहीं दीं। लेकिन तीन-चार मिनट पहले भी देखा था कि वे मेरे पीछे-पीछे ही आ रही थीं। सोचा – वे कहीं चली गयी होंगी? कौन थीं वे? वे श्मशान से सारे रास्ते मेरे पीछे-पीछे क्यों आयी थीं? मेस में जाकर मित्रों से सारी बात कही। वे लोग सुनकर हँसते हुए बोले, "कलकत्ते में कई प्रकार की महिलाएँ हैं। तू देखने में सुन्दर है न, इसीलिये तेरे पीछे लगी थी।" लेकिन मुझे विश्वास नहीं हुआ।

खैर, मैं गीले कपड़े उतार सूखे कपड़े पहनकर सो गया। बिस्तर में भी रास्ते की घटना याद आ रही थी, नींद नहीं आ रही थी। लेकिन मैं कब सो गया, इसका पता ही नहीं चला। नींद में एक स्वप्न देखा। एक ज्योतिर्मयी मातृमुर्ति मुझसे बोली, "देख हरेन, श्मशान में लौटते समय तुझे बहुत भय लगा रहा था न ! इसीलिये मैं तेरे पीछे-पीछे चलकर तुझे अपने संरक्षण में ला रही थी। मैं जयरामबाटी में हूँ। तेरा समय हो गया है। मैं तुझे दीक्षा दूँगी। तू मेरे पास चला आ।" नींद खुल जाने पर मैं हड़बड़ा कर उठा और जाकर मित्रों को स्वप्न वृतान्त कह सुनाया। सभी बेलूड़ मठ से जुड़े हुए और ठाकुर-स्वामीजी के भक्त थे। स्वप्न का विवरण सुनकर सभी बड़े आनन्दित हुए। सब एक साथ ही बोल उठे, "चलो, हम सभी लोग जयरामबाटी चलें। माँ का दर्शन करेंगे।" मैंने कहा, "मैं पहले हो आता हूँ। देख आता हूँ कि यह स्वप्न सच है या नहीं; तुम लोग बाद में जाना।" दो एक दिन बाद मैं जयरामबाटी के लिये रवाना हुआ। थोड़ा रास्ता ट्रेन से, उसके बाद दो दिन पैदल चलकर जयरामबाटी

पहुँचा। रास्ते में ठाकुर के लिये थोड़ी-सी जलेबियाँ खरीद ली थीं। उसे लेकर मैं जयरामबाटी पहुँचा और माँ का मकान खोजने लगा। मैं हमेशा से थोड़ा संकोची स्वभाव का रहा हूँ। सोच रहा था कि किसी से पूछूँ कि 'माँ का घर कहाँ है?' तभी एक व्यक्ति ने आकर मुझसे पूछा, "क्या आप कलकत्ते से आये हैं?" मेरे "हाँ" कहने पर वे बोले, "माँ ने मुझे आपको अपने पास ले आने के लिये भेजा है।"

वे मुझे साथ लेकर चल पड़े। माँ के घर के पास पहुँचते ही देखा – माँ दरवाजे पर खड़ी हैं। वही मेरा श्रीमाँ का प्रथम दर्शन था। चेहरे पर घूंघट, पर घूंघट सिर तक होने के कारण चेहरा स्पष्ट दिखाई दे रहा था। बिल्कुल वही स्वप्न में देखी मातृमूर्ति, किन्तु यहाँ वैसी ज्योतिर्मयी मूर्ति नहीं, बल्कि साधारण मानवी मूर्ति थी। लेकिन वह कैसा अद्‌भुत रूप था, यह मैं कहकर किसी को समझा नहीं सकता। मैं अवाक् होकर उनकी तरफ देखता रह गया। मेरे मुँह से एक शब्द भी नहीं निकल रहा था, पर साथ में लायी जलेबियों के ठोंगे को मैंने माँ के हाथ में दे दिया। माँ द्वारा उसे ग्रहण करने के बाद मैंने साष्टांग प्रणाम करके उनके चरण स्पर्श किये।

माँ ने स्नेहभरे स्वर में कहा, "बैठो बेटा, कितनी दूर पैदल चलकर आये हो! थोड़ा विश्राम करो।" कहकर स्वयं ही हाथ में पंखा लेकर हवा करने लगीं। थोड़ी देर बाद माँ ने मुझे ठाकुर का प्रसाद दिया और बोलीं, "तालाब में स्नान कर आओ। मैं तुम्हें दीक्षा दूँगी।"

उन्होंने मुझे स्नान के लिए तेल और एक धोती देते हुए कहा, "स्नान करके यह धोती पहनकर आओ।" स्नान के बाद आकर देखा – माँ पूजा कर रही हैं। थोड़ी देर बाद पूजा समाप्त हो जाने पर उन्होंने मुझे बुलाया और सामने रखे एक आसन पर बैठने को कहा। मेरी दीक्षा हो गयी। दीक्षा के बाद माँ ने कहा, "खाने के समय तुम्हें बुलाऊँगी।" खाते समय माँ के एक सेवक ने कहा, "भाई, तुम महा भाग्यवान और पुण्यवान हो, माँ ने तुम्हें स्वयं बुलाकर दीक्षा दी है। हम लोग माँ की सेवा करते हैं, लेकिन हम लोगों की इतनी जल्दी दीक्षा नहीं हुई।" वहाँ ठहरने से कॉलेज की पढ़ाई का नुकसान होता, अत: मैंने माँ से अगले ही दिन वापस लौटने की बात कही। माँ बोलीं, "अभी-अभी तो तुम आये हो, अभी चले जाओगे?" मैंने कहा, "माँ, जाने में ही दो दिन लग जायेंगे। आज ही नहीं निकलने से कॉलेज की पढ़ाई की हानि होगी।" फिर माँ ने कुछ नहीं कहा। विदा लेते समय देखा – माँ के दोनों नेत्र अश्रुपूर्ण हैं। वे रोते हुए बोलीं, "बागबाजार में शरत् से पता करते रहना कि मैं कब कलकत्ते आ रही हूँ। उस समय मिलना।"

कुछ दिनों बाद ही मेरी पढ़ाई-लिखाई बन्द हो गयी, क्योंकि पिताजी ने गाँव से लिखा, "तुम्हें और नहीं पढ़ा सकता। बड़े भाई के बच्चों को पढ़ाना पड़ेगा। तुम राजेन के पास जाना। वह तुम्हें एक नौकरी देगा।" 'राजेन' हम लोगों के एक निकट-सम्बन्धी थे। वे एक जज थे। उन्होंने मेरे लिये एक थाने में दरोगा की नौकरी की व्यवस्था कर दी। मैंने नौकरी की बात सूचित करते हुए माँ को पत्र लिखा। उसके उत्तर में माँ ने लिखा –

बेटा, दीर्घजीवी होओ, जयरामबाटी

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे पिता ने तुम्हें जो आदेश दिया है, तुम उसी का पालन करना। इस समय जैसे तुम देश का काम कर रहे हो, वैसे ही थाने में दरोगा की नौकरी में रहकर देश का काम और भी अच्छी तरह कर सकोगे।

तुम मेरा स्नेहाशीर्वाद लेना। ठाकुर तुम्हारा मंगल करेंगे।

आशीर्वादिका
तुम्हारी माँ

माँ के आदेशानुसार मैंने दरोगा की नौकरी स्वीकार कर ली। उन दिनों पूरे देश में युवकगण स्वदेशी का कार्य करते थे। वे सभी ठाकुर-स्वामीजी के भक्त और देश को स्वाधीन कराने में दृढ़व्रती थे। माँ ने मुझे लिखा था, "थाने में दरोगा की नौकरी में रहकर देश का काम और भी अच्छी तरह कर सकोगे।" मैं नहीं जानता कि माँ ने क्या कहना चाहा था, तो भी मैं देशसेवी भाइयों के काम में गुप्त रूप से सहयोग देता और भूमिगत भाइयों को अपने घर में रखता था। किसी को नौकर, किसी को चरवाहा, किसी को सईस, तो किसी को मल्लाह बनाकर किसी निरापद स्थान में जाने की सुविधा कर देता। कुछ युवकों को थाने के हवालात में बन्द रखा जाता। मैं स्वयं देखता कि उन पर कोई अत्याचार न हो। वैसे, यह सब मैं बड़ी सर्तकतापूर्वक करता था। माँ ने क्या इसी तात्पर्य के साथ लिखा था – "देश का काम और भी अच्छी तरह कर सकोगे?" मुझे लगता है, ऐसा ही होगा।

दरोगा के पद पर रहकर मेरे जीवन का एक नया अध्याय शुरू हुआ। मेरा इस थाने से उस थाने को तबादला होने लगा। जहाँ भी जाता, वहाँ के विशिष्ट तथा शिक्षित लोगों को अपने आवास पर बुलाता और हम सब एक साथ मिलकर 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' या स्वामीजी के ग्रन्थ पढ़ते और उन पर चर्चा करते। बेलूड़ मठ के किन्हीं साधु-ब्रह्मचारी के उस क्षेत्र में आने पर उन्हें निमंत्रित करके अपने आवास पर ले जाता। महाराज लोगों के आने पर घर में कैसा आनन्दोत्सव होता, इसे कैसे बताऊँ? इसी बीच मेरा विवाह हो गया। मेरी पत्नी (इन्दुबाला) भी इन सब कार्यों में मुझे खूब सहयोग देती। परवर्ती काल में मेरे बच्चों ने भी घर पर आनेवाले महाराज लोगों से आरती-गान, स्तोत्र तथा भजन गाना सीखा

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

श्रीमाँ और नारीजाति का आदर्श

स्वामी वीरेश्वरानन्द

रामकृष्ण मठ तथा मिशन के दशम अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने श्रीमाँ सारदादेवी की जन्मशताब्दी के अवसर पर अंग्रेजी में एक लेख लिखा था, जो 'वेदान्त-केसरी' के १९५४ ई. के जुलाई अंक में मुद्रित हुआ था। जो बाद में अंग्रेजी के 'Spiritual Life for Modern Times' तथा बँगला के 'ए युगे धर्म केनो' पुस्तकों में संकलित हुआ था। प्रस्तुत है उसी का चुने हुए अंशों का स्वामी विदेहात्मानन्द कृत हिन्दी अनुवाद – सं.)

रामेश्वरम तथा दक्षिणी भारत के अन्य तीर्थों का दर्शन करते समय श्रीमाँ जब कुछ दिनों के लिये मद्रास में ठहरीं, तो मठ के कोई-कोई भक्त तथा सहयोगी आकर मठाध्यक्ष स्वामी रामकृष्णानन्द से पूछते – माँ कोई व्याख्यान आदि भी देंगी क्या? उन लोगों ने श्रीमती एनी बेसेंट के व्याख्यान सुने थे और देखा था कि किस प्रकार वे अपनी वाग्विदग्धता की शक्ति से सारे श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देती थीं। श्रीमाँ से भी उन लोगों ने ऐसी ही आशा की थी। स्वामी रामकृष्णानन्द ने जब कहा कि माँ कोई व्याख्यान नहीं देंगी, तो वे लोग खूब निराश होकर लौट जाते। विद्वत्ता तथा बौद्धिकता ही उन लोगों के लिये महानता का मूल्यांकन करने का एकमात्र मापदण्ड था। कितने दुर्भाग्य की बात है! उन लोगों ने ऐसा महान् अवसर खो दिया। वे लोग यदि माँ की विद्वत्ता के चक्कर में न पड़कर उनके चरणों में आकर शान्त भाव से थोड़ी देर बैठे रहते, तो वे लोग कितने लाभान्वित हो जाते।

हम शास्त्रों में पढ़ते हैं कि साधक जब समाधि की अतीन्द्रिय भूमि से स्वाभाविक अवस्था में लौटता है, तब उसे द्वैत जगत् का बोध होने पर भी उसके प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता, क्योंकि उसने संसार की असारता को जान लिया है। श्रीमाँ के सान्निध्य में थोड़ा समय बिताने के बाद इसी अनुभूति का मानो थोड़ा आभास मिल जाता था।

श्रीमाँ – जो विनम्रता, करुणा तथा प्रेम की प्रतिमूर्ति थीं; जिन्हें देखते ही समझ में आ जाता था कि मनुष्य के कष्टों से उनका हृदय द्रवित है; जिनका स्नेह सन्त तथा पतित का भेद नहीं मानता था; और जिनके व्यक्तित्व से एक अगाध गम्भीर पवित्र दीप्ति विस्फुरित होती रहती थी – ऐसे एक व्यक्ति के चरणों में बैठ पाना भी कितनी आनन्ददायी अनुभूति थी! जिन लोगों को उनके आध्यात्मिक परिवेश में रहने का सुअवसर मिला है, उन्होंने पाया है कि उनकी विषयों तथा भोगतृष्णा रूपी असाध्य बीमारी काफी हद तक दूर हो गयी है। संसार उन्हें बेस्वाद लगने लगा। उनके लिये जीवन निरुद्देश्य भटकन न रहकर, उद्देश्यपूर्ण तथा मूल्यवान हो उठा है। उनकी निद्रामग्न आत्मा मानो जाग्रत हो उठी है, सुदूर अनन्त की ओर से आनेवाली सुमधुर आह्वान को सुन रही है और उसे प्राप्त करने को अधीर हो उठी है। कैसा अद्भुत रूपान्तरण है यह!

एक अनन्य जीवन : पाँच वर्ष की आयु में सारदामणि देवी का श्रीरामकृष्ण के साथ विवाह हुआ। विवाह के बाद श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर में आकर पुन: अपनी साधनाओं में डूब गये और इसी प्रकार बारह वर्ष बीत गये। बीच में अल्प दिनों के लिये वे दो बार कामारपुकुर गये थे। तब उनकी बालिका तथा किशोरी सारदामणि के साथ भेंट भी हुई थी।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

था। मेरी पत्नी को स्वयं ठाकुर से स्वप्न में मंत्र मिला था।

माँ जब तक स्थूल शरीर में रहीं, तब तक अपने व्यक्तिगत जीवन या नौकरी में कोई संकट आने पर मैं उन्हें पत्र लिखकर सारी बातें सूचित करता। उन पत्रों के उत्तर में माँ निर्देश देतीं कि समस्या का समाधान कैसे होगा और उसी के अनुसार मेरी सभी समस्याओं का समाधान हो जाता। माँ के कलकत्ते आने पर मैं उद्बोधन-भवन में मिलता। अपनी सामर्थ्य के अनुसार मैं माँ के लिए कुछ-न-कुछ ले जाता। एक दिन मैंने उद्बोधन जाकर माँ को प्रणाम किया। माँ बोलीं, "मैं तुम्हारी ही बात कर रही थी और तुम आ भी गये!" सुनकर मैं अभिभूत होकर बोला, "माँ! आपकी इतनी अच्छी-अच्छी सन्तानों के रहते हुए भी मेरी बात आपको याद आती है?" माँ ने (बगल में बैठी गोलाप-माँ और योगिन-माँ की ओर इंगित करते हुए) कहा, "इनसे पूछो!" उन लोगों ने कहा, "हाँ जी, माँ अभी-अभी तुम्हारे बारे में बात कर रही थीं।" माँ बोलीं, "हाँ बेटा, याद आती है। मेरी सभी सन्तानों की मुझे याद आती है। अच्छा बेटा, क्या तुम मुझे एक बार अपनी माँ से मिलवाओगे?" इसके बाद एक बार मैं अपनी माता को श्रीमाँ के पास ले गया था। माँ बहुत खुश हुईं थीं और मेरी माता भी कृतार्थ होकर लौटी थीं। परन्तु मेरी सहधर्मिणी का कभी भी माँ के पास जाना नहीं हुआ। माँ की इच्छा के बिना तो इस जगत् में कुछ भी नहीं होता – अवश्य, यह भी उन्हीं की इच्छा से हुआ। मेरे सारे कार्य मानो उन्हीं की इच्छा से होते हैं, उनकी इच्छानुसार मैं आजीवन चलता रहूँ – यही मेरी हार्दिक आकांक्षा है।

❑ ❑ ❑

परन्तु विश्व के समक्ष उनके युगल जीवन की महान् लीला तब शुरू हुई, जब माँ दक्षिणेश्वर में निवास करने आयीं। उन्होंने अपने सुदूर गाँव के घर में लोगों के मुख से सुना कि उनके पति पागल हो गये हैं और वे इस बात की सत्यता को जानने, अपने जीवन-सर्वस्व की सेवा और ईश्वर-प्रेम-विह्वल पतिदेव को उनके अभीष्ट पथ में सहायता करने आयी थीं।

तोतापुरी ने श्रीरामकृष्ण से कहा था, "पत्नी के समीप रहने पर भी जिसके त्याग-वैराग्य तथा विवेक-विज्ञान सर्वथा अक्षुण्ण बने रहते हैं, उसी को यथार्थ रूप से ब्रह्म में प्रतिष्ठित माना जाता है; स्त्री और पुरुष दोनों को ही जो समान आत्मा के रूप में सर्वदा देखने तथा तदनुरूप उनके साथ आचरण करने में समर्थ है, उसी को वास्तविक ब्रह्मविज्ञान की प्राप्ति हुई है।" (श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, साधकभाव, अध्याय १७) इस उक्ति की अब दीर्घकाल तक विभिन्न प्रकार से परीक्षा होने लगी। इसकी परिसमाप्ति उस 'षोडशीपूजा' में हुई – जो जड़ देह पर आत्मा की विजय, श्रीरामकृष्ण में दैवीभाव की अभिव्यक्ति और उनकी सहधर्मिणी सारदामणि में जगदम्बा की दैवीसत्ता के आविर्भाव का द्योतक था।

इसके बाद श्रीरामकृष्ण स्थूल शरीर में इस पृथ्वी पर कुल चौदह वर्ष रहे – और इस पूरे काल में हम माँ को अथक रूप से उनकी सेवा में नियोजित देखते हैं। इस आत्मविस्मृत निष्ठापूर्ण सेवा का स्वरूप अत्यन्त विस्मयपूर्ण था। इस काल में इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध, व्यवहार, श्रद्धा आदि के विषय में जो सारी बातें लिखी गयी हैं, उन्हें पढ़कर हमारा हृदय एक सघन माधुर्य रस से सिंचित हो जाता है। उनका दाम्पत्य जीवन कैसी अपूर्व महिमा से परिपूर्ण था!

श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण के बाद पारिवारिक परिवेश में रहते हुए श्रीमाँ का महत्त्व मानो और भी अधिक अभिव्यक्त हो उठा था। वृद्धा माता की देखभाल, सांसारिक बुद्धि रखनेवाले भाइयों का दायित्व, पितृहीन भतीजी (राधू) और उसकी पगली माँ का भार तथा और भी न जाने कितने प्रकार के सांसारिक झंझट – इन सबके बीच ही माँ की अटल सहनशीलता तथा निराकांक्षापूर्ण शान्त भाव दीख पड़ता था, जो उनकी आध्यात्मिक महत्ता तथा पूर्णांग मातृत्व का परिचायक था।

धर्मगुरु के रूप में भी श्री सारदा देवी का यही मातृस्नेह सुस्पष्ट हो उठता। इस कारण उन्होंने हीनतम पापी तक को अपनी कृपा से वंचित नहीं किया। वे माँ थीं – इसीलिये दोष-गुण पर विचार किये बिना सबको केवल दिये जाना ही उनका स्वभाव था।

अपूर्व दाम्पत्य-जीवन की शिक्षा : ठाकुर तथा माँ का अभूतपूर्व दाम्पत्य-जीवन ने वर्तमान जगत् को क्या शिक्षा देता है, इसकी समुचित धारणा के लिये हमें सर्वप्रथम भारतीय राष्ट्र के उदात्त परम्परा को समझने की जरूरत होगी।

सारे विश्व की नारियों के दृष्टिकोण में एक बड़ा बदलाव आ रहा है। पुरुष तथा स्त्री के स्वभाव तथा क्षमताएँ अलग प्रकार की हैं और सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन में उनकी भूमिकाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं – पाश्चात्य देशों की नारियों ने इस दृढ़मूल प्राचीन धारणा को धराशायी करने का प्रयास किया है। जीवन के सभी क्षेत्रों में वे पुरुषों के साथ प्रतियोगिता में उतर आयी हैं और काफी परिमाण में सफल भी हुई हैं, वैसे यह कहना कठिन है कि इससे उनके सुखों में भी वृद्धि हुई है या नहीं। कुछ अपवादों को छोड़ दें, तो सैकड़ों वर्षों से घर ही नारी का कर्मक्षेत्र रहा है, पर आज ऐसा नहीं रहा। आज वे पूर्णतर जीवन यापन करने का दावा कर रही हैं। नारीजाति के इस क्रान्तिकारी मनोभाव के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। हमारे समाज में नारियों का स्थान सचमुच जरा भी सन्तोषजनक नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि देश के विविध कर्मक्षेत्रों में उनका योगदान स्वागत योग्य है। परन्तु इस नवीन प्रगति की उत्तेजना में कहीं हमारी नारियाँ अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ पहलू को न खो बैठें। हमारी नारीजाति के महान् वैशिष्ट्य की जो राष्ट्रीय संस्कृति या प्राचीन विरासत है, उसी को रेखांकित करने के लिये दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण तथा सारदादेवी का महानाटक अभिनीत हुआ था।

समस्त प्राणियों में एकत्व-दर्शन – तत् त्वम् असि – और यह एकत्व की अनुभूति ही सर्वोच्च उपलब्धि और सच्ची आत्माभिव्यक्ति है, इसकी स्वीकृति – यही भारतीय संस्कृति का मूलभूत तत्त्व है। हमारी सारी सामाजिक व्यवस्थाएँ इसी सत्य की स्वीकृति तथा उसे रूपायित करने की प्रणालियों के ऊपर टिकी हुई है। जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है – इसकी भारत ही ठीक-ठीक धारणा कर सका था और इसी लक्ष्य की प्राप्ति को ध्यान में रखकर उसने अपने समाज का भी गठन किया था। परन्तु भारत यह बात नहीं भूला कि अधिकारी का विचार किये बिना, सबके ऊपर सर्वोच्च आदर्श थोपना उचित नहीं होगा। क्योंकि समाज के नर-नारी आध्यात्मिक उन्नति के विभिन्न स्तरों तक पहुँचे हुए हैं। इसीलिये भारतीय समाज-व्यवस्था में स्तर के अनुसार विभाग किये गये थे। जो लोग आध्यात्मिक दृष्टि से अपरिपक्व थे, उनके लिये सांसारिक सुख-भोगों का विधान था, परन्तु वे लोग कहीं लक्ष्य खो न बैठें, इस ओर भी ध्यान रखा जाता था। जीवन को इस प्रकार नियंत्रित किया जाता, जिससे व्यक्ति विभिन्न प्रकार के अनुभवों तथा अवस्थाओं से होकर चलते हुए लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहे।

भारतीय चिन्तन में विवाह का तात्पर्य : पूर्णता के यात्रापथ पर चल रही जीवात्मा के लिये विवाह भी एक अवस्था है। इस अवस्था को पार करने हेतु ही इसके अनुभव की जरूरत है। विवाह केवल शारीरिक सम्बन्ध नहीं, अपितु

आत्मा के साथ आत्मा के मिलन का प्रतीक है। इसी कारण विवाह-बन्धन इतना पवित्र है। दैहिक प्रेम मानो मन्दिर का बाह्य प्रांगण है – इसका ठीक ढंग से नियमन कर पाने से यह एक दिन मूल मन्दिर के द्वार तक पहुँचा देता है। अधिकांश लोगों के लिये यह जरूरी है, पर कुछ विशुद्धात्मा लोगों के लिये यह प्रारम्भ से ही आत्मिक मिलन है और वे किसी अन्य प्रकार के मिलन की कल्पना तक नहीं कर सकते, जैसा हम श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ के प्रसंग में देख पाते हैं।

मनुष्य ज्यों-ज्यों आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति करता जाता है, त्यों-त्यों प्रेम के विषय में उसकी धारणा भी विशुद्धतर हो जाती है। जो प्रेम कभी दैहिक स्तर पर सन्तानोत्पादन की प्रेरणा के रूप में अभिव्यक्त हो रहा था, वही उच्चतर आदर्श द्वारा संयमित तथा परिष्कृत होकर एक दिन मनुष्य के जीवन में परम उज्ज्वल आध्यात्मिक आलोक ले आता है। विवाह-सम्बन्ध की सार्थकता इन्द्रिय-तृप्ति में नहीं, अपितु संयम तथा सेवा में है। यह सुख को नहीं, बल्कि जीवन को समृद्ध बनाता है। जब भोगसुख लक्ष्य नहीं रह जाता, तब दाम्पत्य सम्बन्ध चरित्र तथा उच्चतर अभिरुचि उत्पन्न करता है। हिन्दू विवाह में इन्हीं सब पर बल दिया जाता है, मिथ्या भोग-विलास पर नहीं। पति और पत्नी आध्यात्मिक संगी हैं; एक-दूसरे के परिपूरक होंगे और दोनों एक साथ चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होंगे। जैसे नारी को एक आदर्श पत्नी होना होगा, वैसे ही पुरुष को भी एक आदर्श पति होना होगा। आदर्श पहले से ही निश्चित किया हुआ है, दम्पत्ति को केवल उसके साथ सुर मिलाकर चलना होगा। वर-वधू को सीता या राम को अपने जीवन का आदर्श बनाना होगा; पर इस प्रयास में यदि एक सफल न हो, तो दूसरे को भी प्रयास छोड़ देना पड़े, ऐसी बात नहीं है। पत्नी अपने पति में ही देवत्व की खोज करेगी और प्रतिदिन देवता के रूप में उसकी सेवा करेगी। उसकी दृष्टि में पति की कमियाँ लुप्त हो जायेंगी। पत्नीत्व जितना दे सकेगा, वह उतना ही महान् होगा। प्रेम की प्रत्याशा किये बिना ही प्रेम करना – यही आदर्श है, इसीलिये हिन्दू नारी सर्वदा सीता-सावित्री की ओर देखती है – जो बिना किसी प्रतिदान की अपेक्षा किये निरन्तर देती ही रही हैं। पत्नी के इस आदर्श को समाज द्वारा नारीजाति पर थोपा गया दासत्व मानना उचित नहीं है (जैसा कि आजकल कोई-कोई सोचता है), यह जैव प्रवृत्तियों के रूपान्तरित करने तथा हृदय के आवेगों के आध्यात्मिक चेतना में उन्नीत करने का एक मार्ग है।

यह सत्य है कि किसी-किसी मामले में इस आदर्श के प्रयोग का समर्थन नहीं किया जा सकता, परन्तु संसार की कोई भी चीज पूर्णतः निर्दोष नहीं है। जब हम किसी भी सामाजिक आदर्श को चलाते हैं, तो हमें इस नीति को देखकर ही निर्णय लेना पड़ता है – 'अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण-साधन'। इसीलिये कुछ असामान्य मामलों में इससे सन्तोषजनक फल नहीं मिला, इसलिये इस आदर्श को ही नकार देना उचित नहीं, कम-से-कम तब तक के लिये, जब तक कि उसकी जगह पर उससे कुछ बेहतर आदर्श नहीं ढूढ़ निकालते। क्योंकि आदर्श-हीन जीवन तो हमें आदिम काल के जंगली मनुष्य के स्तर पर खींच ले जायेगा। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, "जिन मूल भावों से हमारी विवाह–प्रथा का प्रचलन हुआ है, उनके ग्रहण करने से ही यथार्थ सभ्यता का संचार हो सकता है, किसी दूसरे उपाय से कदापि नहीं। ... यदि व्यक्तिगत सुख को समाज में अबाध रूप से छूट दे दी जाय, तो उसका फल बुरा होगा। उससे दुष्ट तथा आसुरी स्वभाव की सन्तानें उत्पन्न होंगी। ... परन्तु हम इन आदर्शों को भूल गये हैं। यह भी पूर्णतः सत्य है कि हम लोगों ने इन महान् भावों में से कुछ को हास्यास्पद बना दिया है।... किन्तु व्यावहारिक रूप में दोषों के आ जाने पर भी वह मूल तत्त्व बड़े ही महत्त्व का है और यदि उसका कार्यान्वन दोषपूर्ण है, यदि इसके लिए कोई खास तरीका असफल हुआ, तो उस मूल तत्त्व को लेकर ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, जिससे वह अच्छी तरह काम में आ सके। मूल तत्त्व को नष्ट करने की चेष्टा क्यों?"

हमारे शास्त्र कहते हैं कि मातृभाव नारियों को पवित्र बनाता है। यही नारी-जीवन को परम उत्कर्ष प्रदान करता है। क्यों? इसलिये कि नारी जब माता होती है, तो उसके भाव तथा अनुभव अधिक शुद्ध हो जाते हैं; और वह दैहिक चेतना के सभी दोषों से मुक्त हो जाती है। तब नारी आत्मा-रूपी चरण लक्ष्य की ओर काफी आगे बढ़ जाती है। इसी कारण मातृत्व इतना पवित्र है। पुरुष तथा नारी के सामाजिक सम्पर्क में कोई भावुकताजनित संकट से रक्षा के लिये हिन्दू शास्त्रों ने माता-पुत्र का दृष्टिकोण रखने का विधान किया है। प्रत्येक नारी स्वयं को मात्र नारी के रूप में ही नहीं, अपितु एक माता के रूप में भी अभिव्यक्त करेगी।

यद्यपि यह स्वाभाविक है कि अधिकांश नर-नारी विवाह करके माता-पिता बनना चाहेंगे, तो भी अपवाद के रूप में ऐसे भी कुछ लोग मिलते हैं, जिन्होंने आत्मा का आह्वान सुना है और वैराग्य का पथ अंगीकार कर लिया है। उन्होंने बिना किसी संगी के ही अनन्त के पथ पर चल पड़ने का साहस दिखाया है। ऐसी नारियों को पत्नीत्व या मातृत्व का अनुभव लेने की जरूरत नहीं है। जीवन का चरम लक्ष्य तो पवित्र एवं निर्लिंग आत्मा की अनुभूति है। और यह पूर्ण त्याग तथा अटूट ब्रह्मचर्य द्वारा ही सम्भव है। काम-लालसा तथा लोभ ही हमें बन्धन में डालते हैं। मुक्त होने के लिये इन दोनों को पूरी तौर से निर्मूल कर डालना होगा।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं, ''देखो, संसार करने पर मन की शक्ति का अपव्यय होता है। इस अपव्यय से जो हानि होती है वह तभी पूरी हो सकती है जब कोई संन्यास ले ले।... काम और लोभ – ये दो विघ्न हैं, व्यक्ति को ईश्वर के मार्ग से डिगा देते हैं।''

इस पूर्ण त्याग के आदर्श को स्वीकार किये बिना हिन्दू धर्म किसी भी नर या नारी को सामाजिक दायित्व से मुक्ति नहीं देता। यह आज के तथाकथित वैयक्तिक-स्वातंत्र्यवाद का समर्थन नहीं करता, जो यथेच्छाचारिता का ही दूसरा नाम है। जो नारियाँ शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक योग्यता से सम्पन्न हैं, उन्हें समाज के प्रति कर्तव्य पालन करना ही होगा। वे मातृत्व के दायित्व को टाल नहीं सकतीं। जब उनका स्नेह सारी सीमाओं को छोड़कर सबके प्रति व्यक्त हो सकेगा, केवल तभी नारी मातृत्व के दायित्व से मुक्त हो सकेगी। क्योंकि तब वह संसार के हर अभावग्रस्त पर अपने वात्सल्य स्नेह की वर्षा कर सकेगी, जैसा कि हमें श्री सारदा देवी के जीवन में दीख पड़ता है।

स्वामी विवेकानन्द ने एक पत्र में लिखा था, ''मेरे विचार से किसी भी जाति को पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करने के लिए मातृत्व के प्रति परम आदर की धारणा दृढ़ करनी चाहिए; और वह विवाह को अच्छेद्य एवं पवित्र धर्म-संस्कार मानने से हो सकती है। रोमन कैथलिक ईसाई और हिन्दू विवाह को अच्छेद्य और पवित्र धर्म-संस्कार मानते हैं, इसलिए दोनों जातियों ने परम शक्तिमान महान् ब्रह्मचारी पुरुषों तथा स्त्रियों को उत्पन्न किया है।... जब तक परस्पर प्रेम और आकर्षण को छोड़कर भी विवाह के पवित्र और महान् आदर्श का निर्माण न होगा, तब तक मेरी समझ में नहीं आता कि कैसे बड़े-बड़े संन्यासी और संन्यासिनियों का उद्भव हो सकेगा ! जैसा कि अब आप समझने लगी हैं कि ब्रह्मचर्य ही जीवन का गौरव है, वैसे ही यह बात मेरी भी समझ में आने लगी है कि कुछ शक्तिसम्पन्न आजीवन ब्रह्मचारियों की उत्पत्ति के लिये जन-साधारण के एक बृहत्तम अंश को इस महान् पवित्रता में प्रतिष्ठित करना परम आवश्यक है।''

श्रीमाँ और नारीजाति का आदर्श : श्रीमाँ का जीवन प्रत्येक नारी – पत्नी, माता तथा संन्यासिनी का भी आदर्श है, क्योंकि संन्यास-जीवन की सारवस्तु – पवित्रता तथा वैराग्य-भाव की मूर्त विग्रह श्रीमाँ को संन्यासिनी के अतिरिक्त और क्या कहूँ? भगिनी निवेदिता ने कहा था, ''नारीजाति की आदर्श के विषय में वे (माँ) श्रीरामकृष्ण अन्तिम उक्ति हैं'', क्योंकि सारदा देवी केवल भारतीय नहीं, एक सार्वभौमिक आदर्श की प्रतिमूर्ति हैं। सभी देशों तथा राष्ट्रों में इस प्रकार के उन्नत नारी-चरित्र का विकास हो सकता है, बशर्ते उन समाजों में नारी को यथार्थ नारीधर्म के पालन हेतु स्वाधीनता तथा सहायता दी जाय। हर किसी को अपने 'स्वधर्म' के अनुसार अपने-अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना होगा। गीता कहती है, ''परधर्मो भयावहः।''

अतः स्त्रीजाति का लक्ष्य उचित आदर्श नारीत्व होना चाहिये, न कि अपूर्ण पुरुषत्व, क्योंकि नारी अपने निजी स्वभाव को नहीं छोड़ सकती। अतः पुरुषों के साथ प्रतियोगिता का प्रयास – जो उनके आत्मविश्वास के अभाव का सूचक है – उनके अपने लिये तथा जगत् के लिये भी क्षतिकर है, क्योंकि नारी प्रत्येक राष्ट्र की जीवनी-शक्ति है। गलत मार्ग पर चलकर उसका अपव्यय होना उचित नहीं। हिन्दू धर्म में शिव-शक्ति की धारणा है – परम तत्त्व के दो पहलू हैं – दिव्य पुरुष तथा दिव्य प्रकृति। श्रीरामकृष्ण अध्यात्म रामायण से उद्धरण देकर कहा करते थे, ''हे राम, तुम जितने भी पुरुष देखते हो, वे सब तुम्हारे अंश हैं; और जितनी स्त्रियाँ देखते हो, वे सब सीता के अंश हैं।'' पुरुष तथा प्रकृति को एक साथ लेकर पूर्णतत्त्व है। इस दृष्टिकोण से पुरुष या स्त्री में से कोई भी किसी से बड़ा नहीं – दोनों ही समान हैं, यद्यपि दोनों का गठन भिन्न है। पुरुष नारी के भीतर दिव्य प्रकृति की अभिव्यक्ति देखना चाहता है, क्योंकि यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिसका हमारे अपने अन्दर अभाव है, उसे दूसरे में देखकर हम उसकी प्रशंसा करते हैं। नारी यदि इस अभिव्यक्ति को सार्थक कर सके, तभी वह पुरुषजाति की श्रद्धा की पात्र बन सकेगी, न कि समान अधिकार के लिये शोरगुल मचाने से। दिव्य नारी-शक्ति का उपरोक्त आदर्श यदि पुनः स्थापित न हो, तो मानव-जाति के लिये कोई आशा नहीं है। स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक गुरुभाई को लिखा था, ''श्रीमाँ क्या वस्तु हैं, यह तुम नहीं समझ सके, कोई भी नहीं समझ सके, क्रमशः समझ सकोगे। भाई, शक्ति के बिना जगत् का उद्धार नहीं होगा।... श्रीमाँ भारत में एक बार फिर उसी महाशक्ति को जगाने आयी हैं।''

अपनी अशिक्षा तथा अज्ञानता के बावजूद भारतीय नारियाँ अब भी एक महान् परम्परा का वहन कर रही हैं, जो वर्तमान जगत् के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। श्रीमाँ ने, अपने जीवन के द्वारा, इस परम्परा में एक नवजीवन का संचार कर दिया है। हमारी माताओं तथा बहनों के लिये यह उचित होगा कि वे उन पाश्चात्य आदर्श की नकल करते हुए तथाकथित सुधारों के पीछे दौड़ने के पहले, थोड़ा ठहर कर अपने इस महान् आदर्श पर विचार करें। उन पाश्चात्य आदर्शों ने अपने ही देशों में भयंकर विश्रृंखला की सृष्टि की है। श्रीमाँ ने हमें मार्ग दिखा दिया है – अब भारतीय नारियों का कर्तव्य है कि वे 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' (अपनी मुक्ति तथा जगत् के कल्याण हेतु) उनके चरण-चिह्नों का अनुसरण करें।

❑ ❑ ❑

स्वामीजी का गाजीपुर-प्रवास (६)

स्वामी विदेहात्मानन्द

३१ मार्च (१८९०) को श्री प्रमदादास मित्र को लिखा स्वामीजी का २४ वाँ पत्र इस प्रकार है –

प्रिय महोदय, मैं पिछले कई दिनों से यहाँ नहीं था और आज फिर जा रहा हूँ। मैंने भाई गंगाधर को यहाँ बुलाया है और यदि वे आते हैं, तो मैं भी उनके साथ आपके पास आ रहा हूँ। कुछ विशेष कारणों से, मैं कुछ दिन यहाँ से कुछ दूर एक गाँव में गुप्त रूप से रहूँगा और वहाँ से पत्र लिखने की सुविधा नहीं होगी। (यहाँ नहीं था,) इसीलिये इतने दिन आपके पत्र का उत्तर न दे सका। भाई गंगाधर सम्भवत: आ रहे हैं, नहीं तो मेरे पत्र का उत्तर आ गया होता। भाई अभेदानन्द वाराणसी में प्रिय डॉक्टर के पास हैं। एक अन्य गुरुभाई (प्रेमानन्द) मेरे साथ थे, अब वे अभेदानन्द के पास चले गये हैं। उनके पहुँचने का समाचार नहीं मिला। उनका भी स्वास्थ्य ठीक नहीं था, इसलिए मैं उनके लिए बड़ा चिन्तित हूँ। मैंने उनके साथ बड़ा निष्ठुर व्यवहार किया अर्थात् मैंने अपना संग छोड़ने के लिये उन्हें बड़ा कष्ट दिया। क्या करूँ, मैं बड़ा ही दुर्बल-हृदय हूँ, माया से बड़ा आच्छन्न हूँ – आशीर्वाद दीजिए कि मैं कठोर हो सकूँ। अपने मन की दशा मैं आप से क्या कहूँ ! वह ऐसा है, मानो रात-दिन उसमें नरक की ज्वाला जल रही हो। अब तक कुछ भी नहीं हुआ, लगता है कि यह जीवन व्यर्थ की गड़बड़ी में ही निकल गया। मैं कुछ भी समझ नहीं पा रहा हूँ। बाबाजी मीठी-मीठी बातें कहते और अटकाए रखते हैं। आपसे क्या कहूँ – मैं आपके प्रति सैकड़ों अपराध कर रहा हूँ – कृपया इन्हें अन्तर्व्यथा से पीड़ित एक सनकी की भूलें मानकर क्षमा करें। अभेदानन्द को खूनी पेचिश हुई है। यदि आप कृपा करके उनका हाल जान लें और यदि वे यहाँ से गये हुए गुरुभाई के साथ मठ लौटना चाहें, तो भेज देने पर मैं आपका विशेष आभारी होऊँगा। मेरे गुरुभ्रातागण मुझे अति निर्दय और स्वार्थी समझ रहे हैं। मैं क्या करूँ, मेरे मन के भीतर भला कौन देखेगा? कौन जानेगा कि रात-दिन मैं कैसी यंत्रणा भोग रहा हूँ? आशीर्वाद दीजिए कि मुझे अटल धैर्य और अध्यवसाय की प्राप्ति हो। मेरे असंख्य प्रणाम स्वीकार करें।

दास, नरेन्द्रनाथ

पुनश्च – अभेदानन्द सोनारपुरा में डॉक्टर प्रिय के घर में ठहरे हुए हैं। मेरा कमर-दर्द वैसा ही है। – नरेन्द्र[४०]

२ अप्रैल (१८९०) को स्वामीजी ने अभेदानन्दजी के नाम अपने २५ वें पत्र में लिखा –

भाई काली, तुम्हारा, प्रमदाबाबू तथा बाबूराम का हस्ताक्षर प्राप्त हुआ। मैं यहाँ एक प्रकार से ठीक ही हूँ। तुम मुझसे मिलने को इच्छुक हो, मुझे भी बड़ा वैसा ही लगता है, इसी भय से नहीं जा पाता हूँ – फिर बाबाजी भी मना करते हैं। दो-चार दिनों के लिए उनसे विदा लेकर आने का प्रयास करूँगा। परन्तु डर इस बात का है कि ऐसा करने पर तुम बिलकुल ऋषीकेशी प्रथा के अनुसार मुझे पहाड़ पर खींच ले जाओगे – फिर मेरे लिए अलग होना कठिन हो जायगा, खासकर मुझ जैसे दुर्बल के लिए। कमर का दर्द भी किसी तरह ठीक नहीं हो पाता – बड़ी समस्या है। धीरे-धीरे अभ्यस्त हो गया हूँ। प्रमदाबाबू को मेरे कोटि-कोटि प्रणाम कहना। मेरी शरीर तथा मन के वे अति हितकारी मित्र हैं और मैं उनका विशेष ऋणी हूँ। जो होना है, सो होगा। इति।

शुभाकांक्षी, नरेन्द्र[४१]

२ अप्रैल (१८९०) को गाजीपुर से अपने २६ वें और अन्तिम पत्र में वे श्री प्रमदादास मित्र को लिखते हैं –

पूज्यपाद, जिस वैराग्य की आप मुझे सलाह देते हैं, वह मैं कहाँ से प्राप्त करूँ? उसी के लिए तो मैं पृथ्वी पर मारा-मारा फिर रहा हूँ। यदि मुझे यह सच्चा वैराग्य कभी उपलब्ध होता है, तो मैं आपको सूचित करूँगा और यदि आपको इस प्रकार की कोई चीज प्राप्त हो, तो कृपया मुझे उसके साझीदार के रूप में याद करें। – आपका, नरेन्द्र[४२]

स्वामी प्रेमानन्द का गाजीपुर-आगमन

जैसा कि स्पष्ट है कि स्वामीजी कुछ काल वराहनगर मठ तथा अपने गुरुभाइयों से दूर रहकर एकान्तवास करना चाहते थे और इसीलिये उन्होंने स्वामी अखण्डानन्दजी को लिखा था कि वराहनगर मठ को सूचित न करना कि मैं गाजीपुर में ठहरा हुआ हूँ, तथापि क्रमश: उनके सभी मित्रों तथा परिचितों को ज्ञात हो गया कि वे लम्बे समय से गाजीपुर में ठहरे हुए हैं। इसके फलस्वरूप कलकत्ते से स्वामी प्रेमानन्द उनसे मिलने और उन्हें कलकत्ते लौटाने वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने १० मार्च (१८९०) को तुलसीराम घोष के नाम अपने पत्र में लिखा, ''बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द) यहीं है। दो-एक दिनों के भीतर वह इलाहाबाद जायेगा। मैं यहाँ से शीघ्र ही प्रस्थान करूँगा। सम्भवत: बरेली जाऊँगा और वहाँ से और भी ऊपर (पहाड़ों में जाऊँगा)।'' फिर १२ मार्च को बलराम बोस के नाम पत्र में लिखा – ''बाबूराम शीघ्र ही इलाहाबाद जा रहा है, मैं एक अन्य जगह जा रहा हूँ।'' १५ मार्च को उन्होंने

४०. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३७१-७२

४१. वही, खण्ड १, पृ. ३७२; **४२.** वही, खण्ड १, पृ. ३७२

फिर बलराम बोस को लिखा – "बाबूराम सहसा ही यहाँ आ पहुँचा है। उसे बुखार हुआ है – ऐसी हालत में उसका बाहर निकलना ठीक नहीं हुआ।"... मैं कल यहाँ से विदा हो रहा हूँ। ... अब पत्र मत लिखियेगा, क्योंकि मैं यहाँ से प्रस्थान कर रहा हूँ। बाबूराम ठीक हो जाने पर, जो इच्छा, करेगा।" लगता है कि स्वामीजी अपने प्रिय गुरुभाई बाबूराम महाराज से पीछा छुड़ाने के लिये ही गाजीपुर छोड़ने की सोच रहे थे, या कुछ दिनों के लिये अज्ञातवास पर चले गये थे। आखिरकार बाबूराम को गाजीपुर छोड़ने को विवश हुए। ३१ मार्च के पत्र में उन्होंने प्रमदा बाबू को लिखा, "मैं पिछले कई दिनों से यहाँ नहीं था और आज फिर बाहर जा रहा हूँ।... कुछ विशेष कारणों से मैं यहाँ से कुछ दूर एक गाँव में गुप्त रूप से कुछ दिन रहूँगा...। एक अन्य गुरुभाई (प्रेमानन्द) मेरे साथ थे, अब वे अभेदानन्द के पास चले गये हैं। उसके पहुँचने का समाचार नहीं मिला। उनका भी स्वास्थ्य ठीक नहीं था, अत: मैं उनके लिए बड़ा चिन्तित हूँ। मैंने उनके साथ बड़ा निष्ठुर व्यवहार किया अर्थात् मैंने अपना संग छोड़ने के लिये उसे बड़ा कष्ट दिया। क्या करूँ, मैं बड़ा ही दुर्बल-हृदय हूँ, माया से बड़ा आच्छन्न हूँ – आशीर्वाद दीजिए कि मैं कठोर हो सकूँ।... मेरे गुरुभ्रातागण मुझे अति निर्दय और स्वार्थी समझ रहे हैं। मैं क्या करूँ, मेरे मन के भीतर भला कौन देखेगा?"

ऋषीकेश से २२(?) मार्च,'९० को सान्याल ने प्रमदाबाबू को लिखा है, "हमारे अभेद भाई काशी गये हैं। उनके मुख से ऋषीकेश के विषय में सब सुन सकेंगे।" उसी पत्र में वे स्वामीजी को लिखते हैं, "तुम और बाबूराम हम सभी का प्रणाम स्वीकार करना। हम सभी सकुशल हैं। आशा करता हूँ कि तुम और बाबूराम भाई मजे में होगे।" शरत् महाराज ने लिखा है, "भाई नरेन, तुम मेरा और हरि के शतकोटि प्रणाम ग्रहण करना।" तुलसी महाराज ने लिखा है, "इस पत्र के द्वारा आप मेरा कोटि-कोटि प्रणाम लीजियेगा और अभेदानन्द स्वामी, बाबूराम बाबू तथा प्रमदादास बाबू को दीजियेगा।"[४३]

वाराणसी और पुनः कलकत्ता

२ अप्रैल को गाजीपुर से अपना अन्तिम पत्र लिखने के कुछ दिनों बाद ही वे अपने गुरुभाई अभेदानन्द को देखने वाराणसी गये। वहाँ प्रमदा बाबू के निवास-स्थान पर आकर वे उनसे तथा अपने दोनों गुरुभाइयों से मिले। वहाँ उन्होंने अभेदानन्दजी की सेवा की सुव्यवस्था की और उनकी देखभाल का भार प्रेमानन्दजी को सौंप दिया। इसके बाद वे स्वयं प्रमदा बाबू के उद्यान-भवन में चले गये। प्रमथनाथ बसु लिखते हैं, "इस उद्यान में वे अधिकांश समय तपस्या और साधन-भजन में बिताया करते; केवल बीच-बीच में कभी-कभार मन्दिरों आदि का दर्शन करने बाहर निकलते। क्रमशः अभेदानन्दजी के स्वास्थ्य में सुधार के लक्षण दीख पड़े। परन्तु तभी श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख गृही शिष्य श्री बलराम बाबू के देहान्त का समाचार आ पहुँचा।"[४४]

१३ अप्रैल को परम भक्त और वराहनगर मठ के एक प्रमुख शुभ-चिन्तक एवं संरक्षक श्री बलराम बोस ने देहत्याग कर दिया था। यह सूचना स्वामीजी के लिये वज्राघात से कम न थी और वे अपनी भावनाओं का आवेग रोकने में अक्षम होकर फफक-फफक कर रो पड़े। एक संन्यासी को इस तरह मानवीय भावनाओं से विचलित देखकर प्रमदाबाबू बड़े विस्मित हो उठे और बिना कहे रह न सके, "संन्यासी होकर भी आप शोक से इतने आकुल क्यों हैं? आपके लिये इस प्रकार शोक करना उचित नहीं!" उत्तर में स्वामीजी बोल उठे, "यह क्या कहते हैं आप! संन्यासी हुआ हूँ, तो क्या हृदय को ही त्याग दूँगा? सच्चे संन्यासी का हृदय तो सामान्य लोगों से भी कहीं अधिक कोमल होना चाहिये। चाहे जो हो, हम लोग मनुष्य तो हैं ही! फिर वे तो हमारे गुरुभाई थे। हम लोगों ने एक गुरु के चरणों में बैठकर शिक्षा पाई थी। जो संन्यास हृदय को पाषाण बनाने का उपदेश देता है, उस संन्यास को मैं स्वीकार नहीं करता।"

कलकत्ते लौटकर स्वामीजी ने **१० मई** को वराहनगर मठ से प्रमदाबाबू को लिखा, "कई झंझटों तथा फिर ज्वर आ जाने के कारण मैं आपको नहीं लिख सका। अभेदानन्द के पत्र से आपकी कुशलता का संवाद पाकर खुशी हुई। गंगाधर भाई शायद अब तक वाराणसी पहुँच गये होंगे। यहाँ इस समय यमराज हमारे अनेक मित्रों तथा स्वजनों को ग्रास कर रहे हैं, अत: मैं बड़ा उद्विग्न हूँ। नेपाल से सम्भवत: मेरे लिए कोई पत्र नहीं आया। न जाने, कब और कैसे विश्वनाथ मुझे विश्राम देंगे? गर्मी थोड़ा कम होते ही मैं इस स्थान से चल दूँगा, पर कहाँ जाऊँ – यह समझ नहीं पा रहा हूँ। आप मेरे लिए विश्वनाथ से प्रार्थना कीजियेगा कि शूलपाणि मुझे शक्ति दें। आप भक्त हैं और 'जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, वे वास्तव में मेरे भक्तों में सर्वश्रेष्ठ हैं' – प्रभु के इन शब्दों को याद करके मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। – आपका, नरेन्द्र"[४५]

अखण्डानन्दजी का गाजीपुर आगमन

उधर गंगाधर चाहते हुए भी, वर्षा तथा कुछ अन्य कारणों से श्रीनगर में ही अँटके हुए थे। उन्हें गाजीपुर आने में विलम्ब हो रहा था। गाजीपुर तथा वाराणसी में होनेवाली इन घटनाओं से अनभिज्ञ १० अप्रैल को उन्होंने श्रीनगर से प्रमदा बाबू को लिखा, "कल अपराह्न में आपका पत्र मिला...।

४३. स्वामी सारदानन्द (बँगला), ब्र. प्रकाशचन्द्र, १९३६, पृ. ६०-२ (पत्र के लिफाफे पर सहारनपुर तथा बनारस सिटी की क्रमशः २५ तथा २७ मार्च की डाक मुहर है)।

४४. स्वामी विवेकानन्द (बँगला), खण्ड १, पृ. १५५

४५. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३७३

श्री नरेन्द्र बाबाजी का (भी) एक पत्र मिला। वे अभी कुछ दिन गाजीपुर ही रहेंगे। कमर के दर्द के कारण उनका पर्वतारोहण नहीं हो सका। लिखा है कि वात हुआ है, ठीक होने पर जहाँ इच्छा, जा सकेंगे। मुझे आने को लिखा है, शीघ्र ही वहाँ पहुँचने की इच्छा है। आजकल यहाँ खूब वर्षा हो रही है, कहीं जाने की सुविधा नहीं है, ठण्ड अब भी बहुत है। ... श्री नरेन्द्र बाबाजी के ३ पत्र मिले हैं। इसीलिये (आने का) निश्चय किया है, दूसरी कोई गति नहीं है।''[४६]

फिर १७ अप्रैल को उन्हीं के नाम कानन बल (काश्मीर) से लिखते हैं, ''श्रीनगर से चार दिन हुए, यहाँ आया हुआ हूँ। ... मार्तण्ड, वैरीनाग, अनन्तनाग आदि स्थानों का दर्शन करने जा रहा हूँ। सब दर्शन करने के बाद १०-१५ दिनों में फिर श्रीनगर पहुँचूँगा। ... अब किसी निर्विघ्न स्थान में बैठना है। बिना बैठे काम नहीं चलेगा। नरेन्द्रनाथ की आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ, वही कर्तव्य है। ... अभी कुछ दिन वे गाजीपुर में ही रहेंगे। मैं भी शीघ्र पहुँचूँगा। पवहारी बाबा के विषय में उन्होंने बहुत-सी बातें लिखी हैं। वे एक अद्‌भुत योगी हैं, आपने क्या उनका दर्शन किया है? पुनश्च – ... श्री नरेन्द्रनाथ बाबाजी के कमर का दर्द कैसा है, लिखियेगा। दो-चार दिन पूर्व मुझे उनके दो पत्र मिले हैं, परन्तु अपने स्वास्थ्य के विषय में उन्होंने विशेष कुछ नहीं लिखा है। श्री नरेन्द्रनाथ बाबाजी यदि कुछ दिनों के लिये इन सभी स्थानों में आकर रहें, तो उनके शरीर के लिये पूर्ण स्वास्थ्यकर होगा। आवागमन भी बड़ा सुगम है। मैंने लिखा था, परन्तु उन्होंने कुछ कहा नहीं। – गंगाधर।''[४७]

इसके बाद मई के दूसरे या तीसरे सप्ताह में गंगाधर (अखण्डानन्दजी) गाजीपुर पहुँचे। वहीं से उन्होंने प्रमदाबाबू को जो पत्र लिखा, उसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं, ''यहाँ पहुँचे दो दिन हो गये हैं। उस दिन सारी रात दिलदारनगर स्टेशन पर रहना पड़ा था। वहाँ से ५ बजे की ट्रेन से तारीघाट आया।... कल पवहारी बाबा के आश्रम में गया था। उनकी वाणी सुनकर कृतार्थ हो गया। वे साक्षात् विनय की प्रतिमूर्ति हैं। ऐसा विनीत भाव मैंने अन्यत्र कहीं भी नहीं देखा। बाबाजी ने इस दास पर विशेष कृपा की है। वे 'दास' और 'सरकार' लगाये बिना कुछ बोलते ही नहीं। उन्होंने हमारे नरेन्द्र स्वामी की बड़ी प्रशंसा की। ... पवहारी बाबा की बातें सुनकर दास कृतार्थ हुआ। बातें सुनते ही उनका दर्शन होता है। उनका दर्शन पाकर मैं अत्यन्त आनन्दित हुआ। बहुत दिनों के बाद कल दास के पूरे शरीर में पीड़ा तथा ज्वर हुआ था।... इसीलिये यहाँ २-३ दिन रहना पड़ा। शरीर पूरा स्वस्थ हुए बिना जा नहीं सकूँगा। आपके यहाँ तो गर्मी किसे कहते हैं, समझ में ही नहीं आया। आपके सत्संग की बात याद आने पर दास के मन में एक विमल भाव का उदय होता है। ... बाबाजी का आश्रम बड़ा शान्तिमय है। कल रात वहीं था। आश्रम के पास एक ग्राम है। रात को उनके आश्रम में कोई रहने नहीं पाता। बाबाजी के पास २-३ दिन रहने को वचनबद्ध हूँ। अत: रहना पड़ा। ...यहाँ श्री गगन बाबू और सतीश बाबू सचमुच ही अत्यन्त उदार स्वभाव के लोग हैं। अभी मैं गगन बाबू के घर में हूँ। ... आज मैंने (वराहनगर मठ को) एक पत्र भेजा है। उसका उत्तर आने तक मैं सम्भवत: यहीं रहूँगा।... – गंगाधर''[४८]

२९ तथा ३१ मई और २,३ तथा ४ जून के पत्रों में अखण्डानन्द जी ने प्रमदा बाबू को अपने बुखार तथा स्वास्थ्य विषयक अन्य सूचनाएँ दी हैं। ६ जून के पत्र में उन्होंने लिखा है, ''कल १० बजे श्री नरेन्द्र स्वामी ने यहाँ एक अर्जेंट तार भेजा था। तार यहाँ से भी गया है। रोग दूर हो गया है। ... अब भी शरीर अत्यन्त दुर्बल है। अब एक दिन पवहारी बाबाजी को साष्टांग करके अपने मठ की ओर प्रस्थान करूँगा। अब भी स्वस्थ हूँ। '' ७ जून को उन्होंने फिर लिखा, ''आज सुबह पवहारी बाबाजी का दर्शन करने गया था। बड़ी प्रसन्नता की बात है। जाते ही बाहर आ गये थे। उन्हें आपका साष्टांग कहा है। उन्होंने कल मुझे मठ जाने का आदेश दिया और कहा कि श्री नरेन्द्र स्वामी तुम्हारे लिये बड़े उद्विग्न हैं। मैं कल ८ बजे की ट्रेन से यात्रा करूँगा। ... श्री पवहारी बाबा ने भी आज्ञा दी है – अब यहाँ और नहीं ठहर सकता।'' उसी दिन उन्होंने दिलदार नगर स्टेशन से लिखा, ''आज दो बजे के मेल से वराहनगर (मठ) जा रहा हूँ।''[४९]

इस प्रकार ८ जून को सुबह वे कलकत्ते पहुँच गये।

स्वामीजी लौटकर कलकत्ते में

उधर स्वामी विवेकानन्दजी ने बागबाजार (कलकत्ता) के पते से **४ जून** को प्रमदाबाबू के नाम पत्र में लिखा, ''भाई गंगाधर के भी दो पत्र मुझे मिले। इस समय वह गगनबाबू (गाजीपुर) के घर पर है, इन्फ्लूएंजा से पीड़ित है। गगन बाबू उसका विशेष ध्यान रख रहे हैं। स्वस्थ होते ही वह वहाँ आ जायगा। आपको हमारा सादर प्रणाम। पुनश्च – अभेदानन्द तथा सभी लोग आनन्दपूर्वक हैं। – आपका, नरेन्द्र''[५०]

६ जुलाई को स्वामी सारदानन्द तथा सान्याल के नाम अपने पत्र में स्वामीजी ने खेद व्यक्त करते हुए लिखा था,''इस बार गाजीपुर छोड़ने का मेरा विचार नहीं था; कलकत्ते आने की तो जरा भी इच्छा नहीं थी, पर काली की बीमारी का संवाद पाकर मुझे वाराणसी जाना पड़ा एवं बलराम बाबू की

४६. शरणागति ओ सेवा (बँगला), कलकत्ता, सं. १९९७, पृ. ५२-५३; **४७.** वही, पृ. ५४-५६

४८. वही, पृ. ५६-५७; **४९.** वही, पृ. ६१-६२

५०. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३७६

आकस्मिक मृत्यु ने मुझे कलकत्ते आने को बाध्य किया।''

इस प्रकार स्वामीजी का पवहारी बाबा के साथ यह सुदीर्घ सान्निध्य समाप्त हुआ। इसके बाद स्वामीजी ने हिमालय और तदुपरान्त पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत का भ्रमण किया। इसके बाद वे सम्पूर्ण विश्व के युगधर्म के रूप में व्यावहारिक वेदान्त का प्रचार और भारतवर्ष के सर्वांगीण पुनर्जागरण आदि के मिशन में लगे रहे। अत: उन्हें दुबारा इन महापुरुष से मिलने का सुयोग नहीं मिला। परन्तु उन्होंने पवहारी बाबा के प्रति आजीवन श्रद्धा तथा प्रेम का भाव बनाये रखा था।

वे अपने व्याख्यानों में कई बार उनके महान् जीवन या उपदेशों का उल्लेख किया करते थे। उनका एक उपदेश था – ''गुरु के घर में गाय के समान पड़े रहो।'' इसका तात्पर्य यह है कि शिष्य को धैर्य, सहिष्णुता, सेवा, अध्यवसाय तथा विनम्रता का आश्रय लेना चाहिये। स्वामीजी के व्याख्यानों में पवहारी बाबा के उल्लेख के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं –

''एक बार मुझे एक योगी के बारे में मालूम हुआ, जो काफी वयस्क थे और जो अकेले एक गुफा में रहते थे। उनके पास भोजन पकाने के लिए एक या दो बर्तन मात्र थे। वे बहुत कम खाते थे, एक-आध वस्त्र पहनते थे और अपना अधिकांश समय ध्यान लगाने में ही व्यतीत करते थे।

''उनकी दृष्टि में सभी प्राणी समान थे। वे अहिंसा में सिद्ध हो गये थे। वे प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक प्राणी में आत्मा या जगदीश्वर का दर्शन करते थे। उनके लिए प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणी 'मेरे प्रभु' थे। किसी व्यक्ति या पशु को वे किसी दूसरे नाम से सम्बोधित नहीं करते थे। एक दिन एक चोर उनके यहाँ पहुँचा और उसने उनका एक तसला चुरा लिया। उन्होंने चोर को देखा और उसका पीछा किया। पीछा दूर तक चला। चोर को थककर रुक जाना पड़ा। योगी दौड़कर उसके पाँवों पर पड़ गये। उन्होंने कहा, ''मेरे प्रभु! मेरे यहाँ आकर तुमने मेरा बड़ा सम्मान किया। मुझे इतना सम्मान और प्रदान कर कि दूसरा तसला भी स्वीकार कर। यह भी तेरा है।'' अब इन वृद्ध महापुरुष का देहान्त हो चुका है। उनमें संसार की प्रत्येक वस्तु के लिए प्रेम भरा था। वे एक चींटी के लिए भी अपना प्राणोत्सर्ग कर देते। वन्य पशु सहज बुद्धि से इन वृद्ध व्यक्ति को अपना मित्र समझते थे। सर्प तथा भयानक पशु उनकी गुफा में जाते और उनके साथ सो जाते। वे सब उनसे प्रेम करते थे और उनकी उपस्थिति में कभी लड़ते नहीं थे।[५१]

''अपने जीवन में मैंने जो श्रेष्ठतम पाठ पढ़े हैं, उनमें एक यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिए, जितना कि उसके साध्य के विषय में। जिनसे मैंने यह बात सीखी, वे एक महापुरुष थे। यह महान् सत्य स्वयं उनके जीवन में प्रत्यक्ष रूपायित हुआ था। इस एक सत्य से मैं सर्वदा बड़े पाठ सीखता आया हूँ। और मेरा यह मत है कि सब प्रकार की सफलताओं की कुंजी इसी तत्त्व में है – साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान देना आवश्यक है, जितना कि साध्य की ओर।''[५२]

''वे प्रत्यक्ष रूप से कभी उपदेश नहीं देते थे, क्योंकि ऐसा करना तो मानो आचार्यपद ग्रहण करना तथा स्वयं को मानो दूसरों की अपेक्षा उच्चतर आसन पर आरूढ़ कर लेने के सदृश हो जाता। परन्तु एक बार जब उनके हृदय का स्रोत खुल जाता था, तब उसमें से अनन्त ज्ञान की धारा निकल पड़ती थी। परन्तु इसके बावजूद उनके उत्तर सीधे न होकर संकेतात्मक ही हुआ करते थे।''[५३]

पवहारी बाबा ने जब देहत्याग किया, उस समय स्वामीजी अपने विदेशी शिष्यों के साथ अल्मोड़ा में निवास कर रहे थे। ५ जून, १८९८ ई० के दिन स्वामीजी को यह दुखद समाचार मिला। इस पर स्वामीजी की प्रतिक्रिया लिपिबद्ध करते हुए भगिनी निवेदिता ने लिखा है, ''उन्होंने अपना मौन तोड़ते हुए हमें उन महापुरुष (पवहारी बाबा) का स्मरण कराया, श्रीरामकृष्ण के बाद जिनके प्रति उनका सर्वाधिक प्रेम था।... वे बोले, 'अभी-अभी मुझे एक पत्र मिला है कि पवहारी बाबा ने (अग्नि में) अपने शरीर की पूर्णाहुति देकर अपने यज्ञों का समापन कर लिया है। यज्ञ की ज्वाला में उन्होंने अपनी देह को जला दिया है।' उनके श्रोताओं में से एक बोल उठा, 'स्वामीजी, क्या यह कार्य बड़ा अनुचित नहीं हुआ है?' स्वामीजी ने बड़े आवेगपूर्ण कण्ठ से उत्तर दिया, 'मैं भला क्या कह सकता हूँ, वे इतने महान् थे कि मैं उनके क्रिया-कलापों पर विचार करने का अधिकारी नहीं हूँ। उन्होंने क्या किया यह वे ही जानें।' इसके बाद और कोई बात नहीं हुई और संन्यासीगण अपने-अपने स्थान पर चले गये।''[५४]

इसके बाद स्वामीजी ने ब्रह्मलीन पवहारी बाबा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि के रूप में एक सुदीर्घ प्रबन्ध लिखा, जो 'प्रबुद्ध-भारत' पत्रिका में १८९९ ई. के जनवरी, मार्च तथा जून अंकों में मुद्रित हुआ और बाद में 'विवेकानन्द-ग्रन्थावली' में भी संकलित हुआ। उक्त लेख में उन्होंने कालीदास के 'कुमार-सम्भवम्' काव्य से उद्धरण देते हुए लिखा है –

अलोक-सामान्यम् अचिन्त्य-हेतुकम्।
निन्दन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्॥

– 'मन्दबुद्धि व्यक्ति महात्माओं के कार्यों की निन्दा करते हैं, क्योंकि ये कार्य असाधारण होते हैं तथा उनके कारण भी

५१. वही, खण्ड ४, पृ. १८२

५२. वही, खण्ड ९, पृ. १७५; **५३.** वही, खण्ड ९, पृ. २७०-१

५४. स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण, कलकत्ता, सं.२००१, पृ.४१

राजमाता कुन्ती का त्याग

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' तथा 'काठियावाड़ की कथाएँ' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है। १९३७ ई. में उन्होंने महाभारत की कुछ कथाओं का बँगला में पुनर्लेखन किया था। जिसकी पाण्डुलिपि हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई हैं। फरवरी के अंक तक हम ७ कथाओं के अनुवाद प्रस्तुत कर चुके हैं। प्रस्तुत है उसी शृंखला की अगली कड़ी – सं.)

पाण्डव लोग उन दिनों एकचक्रा नगरी के एक निर्धन ब्राह्मण के घर गुप्त रूप से रहते हुए अपने अज्ञातवास के दिन बिता रहे थे। माता कुन्ती भी उनके साथ थीं। आजीविका के रूप में भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर वे लोग कालक्षेप कर रहे थे। एक दिन माता कुन्ती के कानों में ब्राह्मण के कमरे से रोने की आवाज सुनाई दी। रुदन सुनते ही वे यह जानने के लिये दौड़ पड़ीं कि आखिर बात क्या है? उन्होंने देखा कि ब्राह्मण अत्यन्त चिन्ताग्रस्त होकर विलाप कर रहा है और उसकी स्त्री, पुत्र और कन्या भी क्रन्दन कर रहे हैं।

कुन्ती ने पूछा, "हे ब्राह्मण, आप लोग क्यों रो रहे हैं? किस दु:ख से इतने कातर हो रहे हैं? मुझे बताइये। यदि सम्भव हुआ, तो मैं उसे दूर करने का प्रयास करूँगी।"

ब्राह्मण – "मेरा दु:ख मनुष्य नहीं दूर कर सकेगा। आप लोग भले आदमी हैं, इसीलिये आपके मन में ऐसी बात उठना उचित ही है, तो भी आपकी जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये मैं आपको सारी बात बताता हूँ –

"इस नगर के पास बकासुर नाम का एक महा बलवान राक्षस निवास करता है। एक तरह से वही यहाँ का राजा है। वह बाहरी संकटों से इस नगर की रक्षा करता है, परन्तु उसके उत्पात से यह नगर उजाड़ हो चला है। उसे भोजन के लिये प्रतिदिन एक मनुष्य चाहिये और यहाँ के नागरिकगण उसके लिये बारी-बारी से अपने परिवार से इसकी व्यवस्था किया करते हैं। आज हम लोगों की बारी आयी है, इसीलिये हम लोग इसी बात को लेकर चिन्तित हैं कि हम लोगों में से कौन जाय! मेरे पास धन भी नहीं है कि किसी दास को खरीदकर भेज सकूँ। परन्तु अपने किसी आत्मीय-स्वजन को तो कदापि नहीं भेज सकता। ... राजा दुर्बल है, वह प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ है। अन्यथा वह इस राक्षस को कब का यमलोक भेजकर प्रजा के प्राणों तथा धन की रक्षा कर सकता था। इसीलिये बुद्धिमान नीतिकारों ने दुर्बल राजा के राज्य में रहने से मना किया है। जो राजा दुष्ट के अत्याचार से प्रजा के प्राण, धन तथा मान की रक्षा नहीं कर सकता; वह राजा होने के उपयुक्त नहीं है। उसके आश्रय में निवास करनेवालों को दु:ख ही उठाना पड़ता है।"

"जो भी हो, बकासुर के हाथों से बचने का कोई भी उपाय नहीं है। आज हममें से किसी एक की मृत्यु सुनिश्चित है। हमने निश्चय किया है कि हम सभी एक साथ जायेंगे – सभी एक साथ मरेंगे, इससे किसी एक प्रियजन के अभाव में अन्य सभी को शोक-दु:ख नहीं भोगना पड़ेगा।

कुन्ती – "भय की कोई बात नहीं ब्राह्मण, भय की कोई बात नहीं। तुम लोगों में से किसी को भी राक्षस के पास नहीं जाना होगा। मेरे पाँच पुत्र हैं। उन्हीं में से एक चला जायगा। तुम लोग निश्चिन्त रहो।

ब्राह्मण – "नहीं, नहीं, ऐसा भला कैसे हो सकता है! प्रथमत: तो आप लोग ब्राह्मण हैं, इसके बाद आप अतिथि हैं; हमारी रक्षा के लिये आप लोगों में से कोई प्राणत्याग करे, यह मुझे बिल्कुल भी स्वीकार नहीं होगा। आप लोग अति कुलीन तथा धर्मप्राण हैं, क्योंकि इतने बड़े त्याग का संकल्प करना सामान्य व्यक्ति के लिये असम्भव है। फिर, धर्म की दृष्टि से विचार किया जाय, तो भी लगता है कि ब्रह्महत्या की अपेक्षा आत्महत्या कहीं अधिक श्रेयष्कर है। और यह तो स्वेच्छाकृत आत्मघात नहीं है, बल्कि सामाजिक विधि के

पिछले पृष्ठ का शेषांश

सर्वसाधारण व्यक्तियों की विचार-शक्ति से परे होते हैं।'

"परन्तु उनके साथ हमारा यह परिचय होने के कारण उनके उक्त कार्य के सम्बन्ध में हम एक अनुमान लगाने का साहस कर सकते हैं कि उन्होंने यह जान लिया था कि उनके जीवन का अन्तिम क्षण समीप आ गया है और उनकी मृत्यु के पश्चात् भी किसी को कोई कष्ट न हो, इसीलिए उन्होंने पूर्ण स्वस्थ शरीर तथा मन से आर्यों का यह अन्तिम यज्ञ भी सम्पन्न कर डाला।

लेख का समापन करते हुए स्वामीजी ने लिखा, "वर्तमान लेखक इन परलोकगत सन्त का परम ऋणी है। इस लेखक ने जिन श्रेष्ठतम आचार्यों से प्रेम किया है तथा जिनकी सेवा की है, उनमें से वे एक थे। ये पंक्तियाँ चाहे जैसी भी अयोग्य हों, इन्हें मैं उनकी पवित्र स्मृति में अर्पित करता हूँ।"[५५]

❖ **(समाप्त)** ❖

५५. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ९, पृ. २७०-७१

अनुसार अनिच्छापूर्वक जाना होगा, अत: मुझे प्राणों का भय नहीं है। इससे यदि किसी को पाप लगता हो, तो वह राजा को लगेगा, क्योंकि वह रक्षा करने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त, आप लोग मेरे घर में, मेरे आश्रित हैं; मैं भला कैसे जान-बूझकर आपके पुत्र को मृत्यु के मुख में भेजने को राजी हो सकता हूँ! ऐसा करने पर मेरी दृष्टि में वह एक अत्यन्त क्रूर तथा निन्दित कर्म होगा। अत: क्षमा कीजिये, आपके इस प्रस्ताव पर मैं सहमति नहीं दे सकता।''

कुन्ती – ''नहीं, इसमें आपका कोई अधर्म नहीं होगा, क्योंकि मेरे पुत्र बक के समान राक्षस का वध करने में सक्षम हैं। वे इसकी विद्या से सम्पन्न हैं। आप लोग निश्चिन्त रहिये।''

* * *

उस दिन भीम घर में ही उपस्थित थे, बाकी भाइयों के साथ भिक्षाटन के लिये बाहर नहीं गये थे। माता कुन्ती ने भीम को बकासुर का भोजन लेकर जाने का आदेश दिया।

* * *

भिक्षा लेकर लौटने के बाद जब युधिष्ठिर ने सुना कि भीम बकासुर का भोजन लेकर उसके पास जायगा, तो उन्हें लगा कि ऐसा दु:साहस करना ठीक नहीं होगा और वे कुन्ती के पास जाकर बोले – ''माँ, भीम जो यह दु:साहस करने जा रहा है, इसके लिये क्या उसने तुम्हारी अनुमति ली है?''

कुन्ती – ''हाँ, मेरी ही आज्ञा से वह इस ब्राह्मण-परिवार तथा इस नगर का भी दु:ख दूर करने जा रहा है।

युधिष्ठिर – ''परन्तु माँ, ऐसा दु:साहस क्या उचित होगा? इसके अतिरिक्त, तुम अपने पुत्र को मृत्यु के मुख में ही भेज रही हो। तुम्हारे मन में इस लोकाचार-विरुद्ध कार्य का विचार कैसे आया, क्योंकि कोई माँ कभी अपनी सन्तान को इस प्रकार समर्पण नहीं करती। और क्या तुम नहीं जानती कि हमारी सारी सफलता भीम के बाहुबल पर ही निर्भर है! उसके होने के कारण ही हम लोग निश्चिन्त भाव से सो पा रहे हैं। वह कितने ही संकटों से हमारी रक्षा करता रहता है। फिर, भविष्य में राज्य पर अपना न्यायसंगत अधिकार प्राप्त करने के लिये भी धृतराष्ट्र-पुत्रों के साथ युद्ध की सम्भावना है। उसमें विजय-प्राप्ति भी काफी-कुछ भीम के बल पर ही निर्भर है। यह सब जानते हुए भी तुमने क्यों ऐसा त्याग करना स्वीकार कर लिया, यह मैं नहीं समझ पाता! मुझे तो लग रहा है कि तरह-तरह के दु:ख-क्लेशों में पड़कर तुम्हारा हित-अहित का बोध लुप्त हो गया है।''

कुन्ती – ''युधिष्ठिर, मेरी विचार-शक्ति जरा भी दुर्बल नहीं हुई है। मैंने जो किया है, धर्मसम्मत ही किया है। हम इन लोगों के आश्रय में निश्चिन्त रूप से निवास कर रहे हैं – इस उपकार के बदले में कुछ करना हम लोगों का निश्चित कर्तव्य है। प्राप्त हुए उपकार की अपेक्षा प्रत्युपकार अनेकगुना अधिक हो, तभी धर्म की प्राप्ति होती है। इसीलिये मैंने इस कार्य का साहस किया है। इससे हम लोगों की कोई हानि नहीं, बल्कि लाभ ही होगा। भीम के बाहुबल पर हमारा काफी विश्वास है – वह अनायास ही उस राक्षस का वध करके इन ब्राह्मणों तथा सारे नगरवासियों का आशीर्वाद प्राप्त करेगा।''

युधिष्ठिर – ''माँ, तुमने दुखी ब्राह्मण के ऊपर दया करके अच्छा ही किया है, पर यहाँ पर हम लोग गुप्त रूप से निवास कर रहे हैं। ब्राह्मण को सावधान कर देना कि नगर में कहीं भीम द्वारा बकासुर-वध की बात का प्रचार न हो जाय।

* * *

रात बीती। भोर के समय भीम खाद्य सामग्रियों से भरी गाड़ी लेकर बकासुर के आवास की ओर रवाना हुए। निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर वे गाड़ी से उतरे वह सारा भोजन स्वयं ही खाने लगे। यह देखकर बकासुर अत्यन्त क्रोधित हुआ और भीम को मारने दौड़ा। परन्तु वे बिल्कुल निर्भीक भाव से सब कुछ खाते रहे। खाना समाप्त होने पर वे उठे और बकासुर के साथ युद्ध करने लगे। भीम कुश्ती लड़ने में कुशल एक बेजोड़ पहलवान थे। उन्होंने बात-की-बात में असुर को भूमि पर पटक डाला और उसके सीने पर घुटने टेककर उसका अस्थि-पंजर चकनाचूर कर डाला और उसके गर्दन को धनुष के समान मोड़कर उसका मेरुदण्ड तोड़ डाला। इस प्रकार बकासुर ने यमलोक की ओर प्रयाण किया।

* * *

माता कुन्ती ने बकासुर को मारने हेतु भीम को भेजा! माँ होकर भी उन्होंने, दुखियों का दु:ख दूर करने के लिये अपने पुत्र को एक भयंकर राक्षस के पास भेजा – यह उनका कितना बड़ा त्याग था! यदि कहीं बकासुर भीम को मारकर खा जाता, तो क्या माता कुन्ती के मन में शोक नहीं होता?

दुर्बलों की रक्षा के लिये, समाज की रक्षा हेतु, राष्ट्रहित के उद्देश्य से और धर्म के संरक्षण के निमित्त – अपने प्राणों से भी प्रिय सन्तान को भारत की आर्य-माताएँ माता कुन्ती के समान ही बलिदान देती आयी हैं। यही मानव धर्म है, इसीलिये श्रेष्ठ लोग इस धर्म का पालन करने के लिये अपना सर्वस्व तक न्यौछावर करने के लिये प्रस्तुत रहते हैं।

(आदिपर्व, जतुगृहपर्व, १५५-१६३)

स्वामी परमानन्द (२)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

एक बार रामकृष्णानन्द जी ने परमानन्द को ठण्ड के लिये उपयोगी एक अच्छा चादर दिया था। भयंकर ठण्ड के समय भी उनके शरीर पर कोई चादर न देखकर रामकृष्णानन्द जी ने पूछा, "तुमने अपनी चादर का उपयोग क्यों नहीं करते?" परमानन्द ने उत्तर दिया, "मुझे ज्यादा ठण्ड नहीं लगती।" रामकृष्णानन्द जी को बाद में पता चला कि एक निर्धन व्यक्ति के पास ठण्ड में ओढ़ने लायक कुछ भी न देखकर परमानन्द ने अपना चादर उसी को दे दिया था। रामकृष्णानन्द जी ने तत्काल बेलूड़ मठ में प्रेमानन्द जी को पत्र लिखकर कलकत्ते से एक बहुत बढ़िया चादर मँगवाकर पुनः परमानन्द को दे दिया। परमानन्द ने इस चादर का बड़ी श्रद्धा के साथ दीर्घ काल तक उपयोग किया था और बाद में उसे विदेश भी ले गये थे।

अमेरिका जाने के पूर्व स्वामी त्रिगुणातीतानन्द ने मद्रास के मठ में जाकर वहाँ कुछ दिन निवास किया था। वे अपने साथ कोई बिस्तर आदि नहीं ले गये थे। परमानन्द ने उन्हें अपना बिस्तर दे दिया और स्वयं फर्श पर लेटे। एक दिन त्रिगुणातीत महाराज को यह बात ज्ञात होने पर वे परमानन्द के कमरे में आने के पूर्व ही एक खाली तख्त पर सो गये। परमानन्द ने कमरे में आकर माजरा देखा, तो बड़े व्यथित हुए और त्रिगुणातीत महाराज से बिस्तर पर सोने के लिये अनुनय-विनय करने लगे। परन्तु त्रिगुणातीत महाराज किसी भी तरह राजी नहीं हो रहे थे। आखिरकार परमानन्द ने उन्हें अपनी दोनों बाँहों में लपेट लिया और प्रायः गोद में ही उठाकर बिस्तर पर सुला दिया। यहाँ स्मरणीय है कि त्रिगुणातीत महाराज बलिष्ठ तथा स्थूल शरीर के थे, जबकि परमानन्द का दुबला-पतला छोटा-सा शरीर था। अस्तु, स्वामी त्रिगुणातीत को एक तरुण की सेवा-भक्ति के सम्मुख परास्त होना पड़ा।

प्रारम्भ में मद्रास की गर्मी परमानन्द के शरीर को सहन नहीं हो पा रही थी। तब रामकृष्णानन्द जी ने उनके जलवायु-परिवर्तन के लिये एक भक्त की सहायता से उन्हें कुछ काल के लिये कावेरी के तट पर स्थित तंजौर भेज दिया। पौराणिक विश्वास है कि ऋषि अगस्त्य वहाँ तपस्या करके सिद्ध हो गये थे और लोक-हितार्थ अब भी वे सूक्ष्म शरीर में उसी पुण्यतीर्थ में निवास करते हैं। परमानन्द ने इस पवित्र स्थान में लगभग तीन सप्ताह निवास किया था। वहाँ साधना के अनुकूल परिवेश पाकर उन्होंने वह अल्प काल ध्यान-भजन में ही बिताया था। गहरी रात के समय वे कावेरी नदी के तट पर बैठकर अनन्य चित्त से ध्यान में तन्मय हो जाते। तंजौर की स्मृति के प्रसंग में बाद में उन्होंने बताया था कि वहाँ एक रात उन्हें कोई विशेष दिव्य अनुभूति भी हुई थी। इसके बाद से उनके मन में कोई सन्देह नहीं रहा कि वह तीर्थ अत्यन्त जाग्रत है।

१९०४ ई. में वे रामकृष्णानन्द जी के साथ बेलूड़ मठ गये थे। उस समय लगभग एक वर्ष मठ में रहने के बाद वे पुनः मद्रास लौट आये। रामकृष्णानन्द जी परमानन्द को जिस स्नेह की दृष्टि से देखते थे, उसके निदर्शन-स्वरूप एक घटना का उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक न होगा। मद्रास से बंगाल की ओर यात्रा करते समय उन लोगों को ट्रेन के जिस डिब्बे में स्थान मिला था, उसके बाथरूम के दरवाजे की सिटकनी खराब थी। एक बार जब रामकृष्णानन्द जी बाथरूम के भीतर गये हुए थे, उस समय उसके दरवाजे की सिटकनी ऐसी अटक गयी कि वे उसे किसी भी प्रकार खोल नहीं पा रहे थे। बलिष्ठ शरीरवाले रामकृष्णानन्द जी भीतर से काफी प्रयास के बावजूद कुछ कर नहीं पा रहे थे। इस पर परमानन्द उद्विग्न हो उठे और उन्होंने बाहर से दरवाजे पर इतने जोर का धक्का मारा कि उसकी सिटकनी उस एक ही धक्के में खुल गयी। परन्तु दरवाजा बड़े वेग से जाकर रामकृष्णानन्द जी के सीने से जा लगा। अतः दरवाजा खुलने के आनन्द की जगह, रामकृष्णानन्द जी के शरीर को चोट पहुँचने से, परमानन्द खूब लज्जा तथा खेद का अनुभव करने लगे। उनके मन में आ रहा था कि इसके दुगना आघात उनके स्वयं के सीने पर क्यों नहीं लग जाता! परन्तु रामकृष्णानन्द जी ने परमानन्द को खूब समझाया कि उन्हें कोई खास चोट नहीं आयी है, आदि आदि। आखिरकार उन्होंने परम स्नेह के साथ खूब जोर देकर कहा, "भला तुम्हारे द्वारा क्या किसी को आघात मिल सकता है? तुम किसी को पीड़ा दे ही नहीं सकते, दे भी नहीं सकोगे। तुम जगत् में 'बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' आये हो। परमानन्द के प्रति रामकृष्णानन्द जी की यह उक्ति निरर्थक स्नेहालाप मात्र न थी, अपितु अपने अनुगत सेवक के प्रति यह उनकी आशीर्वाणी थी।

१९०६ ई. के जून में स्वामी अभेदानन्द के भारत लौटने

पर वे उनका स्वागत करने स्वामी रामकृष्णानन्द के साथ कोलम्बो तक गये थे। तदुपरान्त वे लोग श्रीलंका तथा दक्षिणी भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए मद्रास लौट आये। इसके बाद वे लोग अभेदानन्द जी के साथ बैंगलोर गये। दक्षिण के तीर्थों का भ्रमण हो जाने के बाद वे लोग पुरीधाम गये। वहाँ पर स्वामी ब्रह्मानन्द जी, प्रेमानन्द जी तथा शिवानन्द जी स्टेशन पर आये और उन लोगों को स्टेशन से सीधे जगन्नाथ जी के मन्दिर में ले गये। एक साथ इतने सारे महापुरुषों के साथ श्रीमन्दिर में जाना, परमानन्द की जीवन की एक स्मरणीय घटना थी। दो-चार दिनों बाद रामकृष्णानन्द जी भी मद्रास से पुरी आकर उन लोगों में सम्मिलित हो गये। ८ सितम्बर को अभेदानन्द जी तथा रामकृष्णानन्द जी के साथ परमानन्द ने कलकत्ते की यात्रा की। कुछ दिनों तक मठ में निवास करने के बाद वे लोग पटना, वाराणसी, आगरा, अलवर तथा अहमदाबाद होते हुए बम्बई पहुँचे। इसी बीच संघ के आदेश पर परमानन्द वेदान्त-प्रचारक के रूप में अमेरिका जाने के लिये तैयार हो गये थे। आखिरकार उन्होंने १० नवम्बर (१९०६) को अभेदानन्द जी के साथ अमेरिका के लिये प्रस्थान किया। उस समय उनकी आयु मात्र २२ या २३ वर्ष रही होगी।

दोनों संन्यासी १९०६ ई. के दिसम्बर में न्यूयार्क पहुँचे। परमानन्द ने पहले तो अभेदानन्द जी के सहकारी के रूप में न्यूयार्क की वेदान्त-समिति में ही कार्य आरम्भ किया। वहाँ पर समिति के सदस्यों के निर्जन-वास के लिये पहाड़ के ऊपर एक आश्रम बना हुआ था। परमानन्द नियमित रूप से वेदान्त पर व्याख्यान आदि देते और बीच-बीच में निर्जन में स्थित वेदान्त-कुटीर में जाकर ध्यान-भजन करते – कभी-कभी वे दीर्घ काल तक लगातार मौन धारण करके भगवच्चिन्तन में कालयापन करते।

१९०८ ई. के दिसम्बर में वे बोस्टन में जाकर श्रीमती ओली बुल के अतिथि के रूप में रहे और वेदान्त के स्थानीय अनुरागियों के साथ धर्मचर्चा करने लगे। एक बार स्वामीजी ने भी बोस्टन में आकर ओली बुल का ही आतिथ्य स्वीकार किया था। श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के इतिहास में श्रीमती ओली बुल का नाम चिर-स्मरणीय रहेगा – बेलूड़ मठ की स्थापना के पीछे भी उनका काफी योगदान था। बोस्टन अमेरिका का एक पुराना ऐतिहासिक नगर है। स्वामीजी की बड़ी इच्छा थी कि वहाँ वेदान्त-प्रचार के लिये एक केन्द्र की स्थापना की जाय। ओली बुल की आर्थिक सहायता और स्वामीजी के शिष्य परमानन्द के अक्लान्त परिश्रम तथा कर्म-कुशलता से आखिरकार १९०९ ई. के दिसम्बर में वहाँ वेदान्त-आश्रम स्थापित हुआ। यह बोस्टन ही परमानन्द का प्रधान कर्मक्षेत्र हुआ।

परमानन्द की मनीषा, वाग्विदग्धता तथा साधुता ने शीघ्र ही उन्हें पूरे अमेरिका में काफी लोकप्रिय बना दिया। १९१२ ई. में करीब छह महीने यूरोप के फ्लोरेंस, स्विट्जरलैंड, जर्मनी आदि स्थानों में भी उन्होंने सफलतापूर्वक वेदान्त-प्रचार किया था। १९१२ ई. के जनवरी से उनके सम्पादन में The Message of the East (प्राच्य का सन्देश) नामक एक वेदान्त-विषयक पत्रिका भी बोस्टन से प्रकाशित होने लगी। उनके व्याख्यानों तथा ग्रन्थों के माध्यम से अपूर्व साहित्यिक निपुणता के साथ उनके उच्च कोटि के विचार प्रस्फुटित हो उठते थे। Path of Devotion, Vedanta in Practice, The way of Peace and Blessedness आदि पुस्तकें उनकी उच्च कोटि की विद्वत्ता की परिचायक हैं। उनके द्वारा रचित The Vigil, Rhythm of Life आदि काव्य-ग्रन्थ भी भाव, भाषा तथा छन्द की दृष्टि से सानी नहीं रखतीं। उनकी कोई-कोई रचना अन्धे पाठकों के लिये ब्रेल लिपि में भी छपी थी। परमानन्द द्वारा अनुवादित 'गीता' तथा 'उपनिषद्' अमेरिका के विद्वत् समाज में काफी समादृत हुआ था।

१९१४ ई. के १४ मई के दिन बोस्टन की वेदान्त सोसायटी अपने निजी भवन में स्थानान्तरित हुई और इससे परमानन्द का कार्य और भी दृढ़ भूमि पर स्थापित हो गया। १९१३ और १९१४ में – वे दो बार यूरोप में प्रचार-यात्रा पर गये थे। पेरिस तथा जेनेवा में उनके वेदान्त-विषयक व्याख्यान वहाँ की विद्वत्-मण्डली द्वारा काफी प्रशंसित हुए थे। १९१६ ई. में उनके अमेरिका के लास-एंजेलस नामक नगर में केवल पाँच महीने निवास के फलस्वरूप उसी वर्ष के अगस्त में वहाँ एक वेदान्त-केन्द्र की स्थापना हुई थी। इस प्रकार वे एक परिव्राजक-प्रचारक के रूप में अमेरिका के विभिन्न नगरों में अविराम भ्रमण करते हुए श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सन्देश के प्रचार में लगे रहे। परमानन्द की कर्मदक्षता के फलस्वरूप १९२३ ई. के अप्रैल में, बोस्टन के वेदान्त-समिति के अधीनस्थ ही दक्षिणी कैलीफोर्निया के ला-क्रिसेंटा में 'आनन्द-आश्रम' नामक एक मनोरम आश्रम का निर्माण हुआ था। १९२९ ई. में उन्होंने बोस्टन से २३ मील दूर अटलांटिक महासागर के तट पर कोहासेट नामक स्थान में एक अन्य वेदान्त-कुटीर की स्थापना की थी। वृक्ष-लताओं आदि से परिपूर्ण यह आश्रम मुख्यत: तपस्या के निमित्त ही बनाया गया था। प्रतिवर्ष ४ जुलाई को, अपने गुरुदेव के महानिर्वाण दिवस के अवसर पर परमानन्द वहाँ जाकर एकान्त में मौन धारण करके जप-ध्यान किया करते थे। यहाँ उल्लेखनीय है कि परमानन्द के तिरोधान के उपरान्त बोस्टन, ला-क्रिसेंटा तथा कोहासेट के तीनों केन्द्र रामकृष्ण मठ तथा मिशन के अधीनस्थ नहीं रहे।[१]

१९११ ई. में स्वामी रामकृष्णानन्द की अस्वस्थता का

समाचार पाकर परमानन्द भारत आये थे। परन्तु जहाज के अदन से छूटने के थोड़ी देर बाद ही उन्हें समाचार मिला कि रामकृष्णानन्द जी २१ अगस्त के दिन महासमाधि में लीन हो गये। कोलम्बो के कस्टम्स हाउस में आकर जब उन्हें रामकृष्णानन्द जी के महाप्रयाण की सविस्तार जानकारी मिली, तो वहीं पर वे अत्यन्त शोकमग्न होकर बैठ गये थे। सम्भवत: कई घण्टे वे वहीं पर स्तब्ध होकर बैठे रह गये। सुनने में आता है कि वहाँ पर वे रामकृष्णानन्द जी की हास्योज्वल ज्योतिर्मय मूर्ति का दर्शन पाकर किंचित् आश्वस्त हुए थे। इसके बाद वे मद्रास होते हुए बेलूड़ मठ पहुँचे। रामकृष्णानन्द जी के अभाव में मद्रास अब उन्हें शून्यपुरी प्रतीत हुआ था। १९२६ ई. में मठ तथा मिशन के ऐतिहासिक महा-सम्मेलन के समय भी वे भारत आये थे और मठ में रहकर उन्होंने महा-सम्मेलन में सक्रिय भूमिका निभायी थी। १९३७ ई. में श्रीरामकृष्ण की जन्म-शताब्दी के महोत्सव के लिये भी वे मठ में आये थे। उस उपलक्ष्य में कलकत्ते के टाउन हॉल में आयोजित विश्वधर्म-महा-सम्मेलन के एक अधिवेशन में उन्होंने सभापति का आसन भी सुशोभित किया था। इस दौरान वे और भी दो बार (१९३३ तथा १९३५ में) भारत आये थे। भारत में भी उनकी धर्म-चर्चाओं तथा व्याख्यानों ने सर्वत्र बड़े उत्साह तथा आनन्द की सृष्टि की थी।

परमानन्द के जीवन का अधिकांश समय अमेरिका की धरती पर ही बीता। वहाँ उनकी ध्यान-तन्मयता, परोपकारिता तथा कर्म-कुशलता ने बहुत-से लोगों की दृष्टि आकृष्ट कर ली थी। परमानन्द के नित्य-आनन्दपूर्ण स्वभाव, निर्दोष आमोदप्रियता तथा उन्मुक्त हास्य-विनोद से युक्त जीवन ने सचमुच ही उनके गुरुदत्त नाम को सार्थक बना दिया था। वे कहते, ''मैं किसी की भी निन्दा नहीं कर सकता, निकृष्टतम व्यक्ति की भी नहीं। मेरा कार्य है उससे प्रेम और उसकी सेवा करना। धर्मजीवन में आलोचना तथा निन्दा का कोई स्थान नहीं है। दूसरों के कल्याण का चिन्तन तथा सेवा करना ही मेरे जीवन की साधना है।''

१९४० ई. के २१ जून को स्वामी परमानन्द अकेले ही बोस्टन से आकर पहाड़ के ऊपर स्थित कोहासेट आश्रम के अपने ध्यान-कुटीर में चले गये। काफी देर बाद नीचे की कुटिया में लौटकर वे अपने अनुरागी भक्तों से बोले, ''मैं एक अन्य लोक में चला गया था।'' कहते-कहते वे करीब बीस कदम चलने के बाद सहसा ठहरे, मुड़े और अचानक अपने दोनों हाथ आगे बढ़ाकर मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़े। जब एक भक्त उनकी सहायता की चेष्टा करने लगा, तो उनके मुख से निकलने वाला अन्तिम वाक्य था, ''नहीं, अब मुझे मत पकड़ो।'' इसके साथ ही सहसा उनके हृदय की क्रिया बन्द हो गयी। संन्यासी परमानन्द ने इस तृणशय्या को ही अपनी अन्तिम शय्या के रूप में अपनाया था।

पुरुषावतार स्वामीजी के आश्रित शिष्य स्वामी परमानन्द का जीवन इस बात का एक उत्कृष्ट उदाहरण है कि प्रबल इच्छाशक्ति तथा मनोबल की सहायता से और आत्मविश्वास तथा साधना के द्वारा, एक सामान्य बालक भी समय आने पर कितना बड़ा शक्तिधर हो सकता है। निर्भीक परमानन्द यह जानते ही नहीं थे कि भय किस चिड़िया का नाम है। एक बार स्वामी रामकृष्णानन्द ने एक विदेशी के साथ उनका परिचय कराते हुए कहा था,''यह लड़का पूरी तौर से निर्भीक है।'' जीवन में वे कभी किसी कार्य से पीछे नहीं हटे। कार्य से वे कभी घबराते नहीं थे, बल्कि वे ईश्वर से प्रार्थना करते कि वे उन्हें गुरुभार वहन करने की शक्ति प्रदान करें। जीवन में चाहे जितना भी दुख-कष्ट क्यों न आये, यदि उसके द्वारा किसी एक का भी कल्याण होता हो, तो वे प्रसन्न चित्त से उसे बारम्बार स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत थे। उनका मत था कि एक जीवन को नष्ट करना सहज है, परन्तु एक महान् आदर्श या परोपकार के लिये उसे बिताना एक कठिन साधना है। इसीलिये परमानन्द कहा करते थे, 'I do not ask to have my burden lightened. All I ask for is the strength to carry it. Life has given me great worries and troubles, yet I am glad to take them up again and again as long as I feel that it benefits or is useful to others. It is easier to lay down your life than to live for an ideal and for humanity.' ('मैं अपने बोझ को हल्का करने के लिये नहीं, बल्कि उसका वहन करने हेतु शक्ति के लिये प्रार्थना करता हूँ। जीवन में मुझे अनेक चिन्ताएँ तथा कष्ट मिले हैं, परन्तु जब तक वे दूसरों के लिये लाभकारी तथा उपयोगी प्रतीत होंगे, तब तक मैं प्रसन्नतापूर्वक उन्हें बारम्बार अंगीकार करूँगा। एक आदर्श तथा मानवता के हितार्थ जीवन धारण करने की अपेक्षा मृत्यु का वरण कर लेना अधिक आसान है।')

एक वाक्य में कहें, तो परमानन्द का समग्र जीवन स्वामीजी के इस आदर्श-वाक्य का ही मूर्तिमान स्वरूप था – 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'।

❖ **(समाप्त)** ❖

१. स्वामीजी की स्मृतियों से जड़ित बोस्टन में स्वामी अखिलानन्द द्वारा अप्रैल, १९४१ ई. में बेलूड़ मठ के अधीन एक नया केन्द्र स्थापित हुआ।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२५६. प्रभु भक्तन के सदा सहायक

सन्त जनाबाई को बचपन में ही भगवान विट्ठलदेव की पूजा-उपासना और भक्ति में लीन देखकर उनके माता-पिता ने उन्हें सन्त नामदेव के पिता दामाजी के सुपुर्द कर दिया। वहाँ वे उनके परिवार की सदस्या के रूप में घर के हर काम को बड़े उत्साहपूर्वक किया करती थीं। काम करते-करते वे निरन्तर भजन-कीर्तन गाती रहती थीं। उन्हें दिन भर काम में व्यस्त रहते देखकर भगवान का दिल पसीज उठता और वे भी कभी-कभी उनकी मदद करने आ जाते।

एक दिन रात के समय जनाबाई चक्की पर आटा पीस रही थीं। उन्हें देखकर भगवान को दया आई और वे भी आकर उनके साथ आटा पीसने लगे। भगवान भक्त के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसके क्रिया-कलापों में साथ देकर इतने तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें समय का ध्यान नहीं रहता। रात का तीसरा प्रहर होता देख जनाबाई ने घबराकर कहा, "सुबह होने वाली है, जल्दी से मन्दिर में चले जाइए, नहीं तो वहाँ हाहाकार मच जाएगा।" ठण्ड के दिन थे। भगवान को ठण्ड न लगे, इसलिए चक्की पीसते समय ही जनाबाई ने भगवान को अपना कम्बल ओढ़ा दिया था। हड़बड़ाहट में भगवान के ध्यान में यह बात नहीं आई और वे कम्बल को ओढ़े हुए ही मन्दिर में जाकर विराजमान हो गये।

भोर में पुजारियों ने जब मन्दिर के द्वार खोले, तो भगवान की प्रतिमा पर कम्बल देख उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। कम्बल को वे पहचानते थे, क्योंकि जनाबाई वही कम्बल ओढ़कर नित्य भगवान के दर्शन के लिए आया करती थीं। उन लोगों को शंका हुई कि जनाबाई ने देव-प्रतिमा के आभूषण चुराकर उनकी जगह अपना कम्बल ओढ़ा दिया है। उन्होंने तुरन्त जनाबाई द्वारा मन्दिर के स्वर्ण-आभूषणों की चोरी की सूचना राजा को भेज दी। बिना किसी जाँच-पड़ताल के ही राज-कर्मचारी जनाबाई को सन्त नामदेव के घर से गिरफ्तार कर लाये और सूली पर चढ़ाने के लिये वध-स्तम्भ की ओर ले गए। जनाबाई भी चुपचाप उनके साथ जाने लगीं। जब उन्हें सूली के पास खड़ा किया गया, तो उन्होंने भगवान का स्मरण किया। राज-कर्मचारी और वहाँ उपस्थित जन-समुदाय यह देख चकित रह गये कि सूली के स्थान से जल की धारा बह रही है। यह चमत्कार सुनकर राजा भी वहाँ पहुँच गया। उसने पुजारियों से देव-प्रतिमा से कम्बल हटाने की आज्ञा दी। जब पुजारियों ने आभूषणों को पूर्ववत् देखा, तो वे बड़े शर्मिंदा हुए और राजा को आभूषणों के सुरक्षित होने की जानकारी दी। राजा को पश्चात्ताप हुआ कि उसने बिना जांच-पड़ताल किये एक सन्त महिला को प्राणदण्ड की सजा सुनाई थी। जनाबाई को सूली से उतारा गया। उनके चेहरे पर सब को एक अलग प्रकार का तेज दिखाई दिया। लोग जान गये कि जनाबाई कोई सामान्य स्त्री नहीं, बल्कि भगवान को अत्यन्त प्रिय हैं और वे उन्हें दर्शन देकर धन्य करते रहते हैं।

२५७. जैसा खाओगे अन्न, वैसा होगा मन

गौतम बुद्ध का पूर्ण नामक शिष्य एक बार एक घर के पास पहुँचा और भिक्षा माँगी। गृहस्वामिनी उस समय गुस्से में थी। उसने पूर्ण से कहा, "भिक्षु, हट्टे-कट्टे होते हुए भी भिक्षा माँगने में तुम्हें लज्जा नहीं आती? मुफ्त में मिल जाता है, इसलिये तुम्हें भिक्षा माँगने की आदत पड़ गई है। भिक्षु को भिक्षा न देना पाप है, इसलिये मैं तुम्हें वापस नहीं भेजूँगी।" यह कहकर वह भोजन पकाने अन्दर चली गई।

भोजन पकने पर उसने एक थाली में भोजन परोसा। पूर्ण भोजन करने लगे। महिला कुछ और लाने हेतु जब अन्दर गई, तो पूर्ण को सामने कुछ ढका हुआ रखा दीख पड़ा। उसने जब वस्त्र हटाया, तो उन्हें सोने का एक हार दिखाई दिया। हार को उन्होंने चुपचाप अपने थैले में रख लिया। भोजन करने के बाद जब वे वापस जाने लगे, तो रास्ते में उन्हें थैला भारी लगा। उन्होंने हाथ डालकर देखा, तो उसमें सोने का हार दिखाई दिया। हार को थैले में देख उन्हें आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे कि हार तो उनका है नहीं, फिर यह थैले में कैसे आ गया! निश्चय ही यह गृहस्वामिनी का होगा, अत: इसे लौटाना चाहिये। वे उसके घर में गये और पूछा, "क्या यह हार आपका है? – "हाँ, यह मेरा है। पर यह आपके पास कैसे आया?" यह पूछने के बाद उसने जिस स्थान पर हार रखा था, वहाँ जाकर वस्त्र हटाया, तो हार नहीं दिखा। पूर्ण ने उससे कहा, "आप पहले मेरे प्रश्न का एक उत्तर दें – क्या आपने मुझे आज अशुद्ध भोजन दिया है?" गृहस्वामिनी बोली, "आप जब आए थे, उस समय मैं गुस्से में थी, इसलिये बिना साफ किये धान को पकाकर परोसा था।" पूर्ण ने कहा, "आपके द्वारा अशुद्ध भोजन कराने का ही परिणाम था कि मेरे मन में विकृति आ गई। मेरी मति मारी गई और मुझसे यह हार अपने थैले में डालने का दुष्कर्म हो गया। दूषित भोजन का असर समाप्त होने पर मुझमें सद्बुद्धि आई और मैं हार लौटाने चला आया। ❑❑❑

वे भाव के विषय हैं

प्रव्राजिका वेदान्तप्राणा

(बँगला के 'निबोधत' पत्रिका के वर्ष २२ के अंक ३ में प्रकाशित कथा का वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद – सं.)

काफी पुरानी बात है। उन दिनों अयोध्या में रामायत सन्तों का जमघट लगा हुआ था। उस बार चित्रकूट से एक त्यागी महात्मा भी आये थे। चेहरे पर गम्भीरता थी। सिर की जटाएँ सफेद हो गई थी। वे श्वेत वस्त्र धारण किये थे। गले में स्फटिक की माला थी। पैरों में काठ के खड़ाऊँ थे। सरयू नदी के तट पर चुपचाप बैठे रहते। वे अपना आसन छोड़कर राम-दरबार या कनक-भवन में श्रीसीता-राम का दर्शन करने भी नहीं गये। बीच-बीच में धूनी जलाकर शुद्ध उच्चारण युक्त वेदपाठ करके आहुति देते। रात में सहसा 'लाला'-'लाला' कहकर किसी को पुकारते और बातें भी करत। पास जाने पर पता चलता है कि वहाँ अन्य कोई नहीं है। साधु ध्यानस्थ हैं। अयोध्यावासी सोचते कि ये साधु भिक्षा लेने भी नहीं जाते ! पर कभी कोई आटा, दाल, सब्जी रख जाता। कुछ लकड़ियाँ तथा सूखी पत्तियाँ जलाकर वे रोटी-सब्जी बना लेते हैं। फिर सरयू नदी के किनारे ही लेटकर पड़े रहते। साधु के चारों ओर गम्भीर शान्ति है। लोग उन ऋषितुल्य मूर्ति के पास जाने में संकोच करते थे। भ्रमणशील सन्त सरयू के किनारे ही अपना सारा दिन बिताते। बड़े भोर में नदी की कल -कल ध्वनि के साथ उनका गम्भीर कण्ठस्वर भी प्रवाहित होता। मानो किसी को पढ़ाते हैं, शिक्षा देते हैं, उपदेश देते हैं। इन रहस्यमय साधु का आचरण विचित्र है। राम का गुणगान भी नहीं करते, तुलसीदास की रामायण का पाठ करके विभोर भी नहीं होते। उनके साथ केवल योग-वासिष्ठ रामायण है। उसी का पाठ अथवा ध्यान करते हैं। मन-ही-मन किसी को कुछ समझाते हैं, व्याख्या भी करते हैं – यह सब दूर से स्पष्ट सुना नहीं जा सकता है, पर किसी दूसरे को वहाँ देखा भी नहीं जा सकता। इन साधु के विषय में साधु-समाज में भी काफी चर्चा-जिज्ञासा चलती रहती है। ये किस तरह के साधु हैं। रामजी तथा सीता मैया का दर्शन करने मन्दिर भी नहीं जाते। पर उनके चेहरे तथा व्यक्तित्व में कुछ ऐसा है, जिसे देखकर मुग्ध हो जाना पड़ता है। उनके तन-मन में एक अलौकिक प्रशान्ति है। वे अजगरी वृत्ति से रहते हैं। भोजन स्वयं ही आ जाता है। अनेक लोगों ने परीक्षा करके देखा है, भिक्षा नहीं दी। परन्तु न जाने कब कोई उनकी भिक्षा एकत्र करके रख जाता है। उस व्यक्ति-विशेष को कोई देख नहीं पाता।

इसी तरह दिन बीत रहे थे। अनेक उत्सव हुए, भण्डारे हुए, पर उन साधु को लाया नहीं जा सका। उनका व्यक्तित्व ऐसा है कि दूर से अनुरोध भी नहीं किया जा सकता।

रामायत-पन्थी साधु लोग जब साथ बैठकर पाठ आदि करते हैं, तो उस महात्मा के विषय में भी चर्चाएँ होती रहतीं। एक दिन एक साधु ने कहा, "देखो भाई, हम लोग तो अपने भाव में साधना करते हैं। कोई रामलला को शिशु भाव से देखता है; कोई किशोर रघुवीर के रूप में चिन्तन करता है; कोई जगत् के पिता-माता के रूप में श्रीराम तथा सीता देवी की उपासना करता है। इसीलिये हम लोग कनक-भवन, राम-दरबार में उनका दर्शन करके आनन्दित होते हैं। वे साधु रामायत-पन्थी जरूर हैं, पर उनकी साधना में कोई गम्भीर तत्त्व जरूर है, जिसे हममें से कोई भी नहीं समझता। उनके साथ विचार-विनिमय तो हम कर ही सकते हैं। चलो, एक दिन सभी लोग उन महात्मा के पास चलें।"

यह बात सबके मन को जँच गई। साधु लोग ही तो साधु का भाव समझेंगे या समझने की चेष्टा करेंगे।

इसके बाद कुछ लोग मिलकर सरयू में स्नान और जप आदि करके उन महात्मा के पास चल पड़े। वहाँ उन लोगों ने उस प्रशान्त छबिवाले ऋषि के प्रसन्न मुखमण्डल पर कौतुकमय हँसी देखी। मानो वे सब कुछ जानते हों। उन्होंने साधुओं का स्वागत करते हुए बैठने को कहा। उन्होंने हाथ जोड़कर पूछा, "मैं महात्मा लोगों की क्या सेवा कर सकता हूँ?" साधु लोग तो तैयार होकर ही आये थे। एक बोले, "महाराज, आप अयोध्या के किसी भी मन्दिर में नहीं जाते। इस सरयू के तट पर ही आसन लगाकर सारा दिन-रात बिता देते हैं। इसलिये श्रीराम का आप किस भाव से भजन करते हैं – यह जानने की जिज्ञासा लेकर आज हम लोग यहाँ आये हैं।"

महात्मा के गम्भीर मुखमण्डल पर हँसी की रेखा फूट पड़ी। बोले, "अच्छा, तो यह समस्या है ! देखो, सभी लोग अपने मन के अनुसार एक-एक भाव लेकर साधना-जगत् में अग्रसर होते हैं। उसी भाव को लेकर जीवन चलता है। मैं बचपन से ही अपने पिता के पास इसी योगवाशिष्ठ की कथा सुनता था। हृदय में वशिष्ठदेव के प्रति गहन आकर्षण का अनुभव भी करता था। इसके पश्चात् मन-ही-मन मानो उनके साथ ही मेरा एकात्म-बोध होने लगा – अहा ! उनकी कैसी अद्भुत तपस्या, चरित्रबल और प्रज्ञा थी। इसके फलस्वरूप मैं मन-ही-मन उन्हीं वशिष्ठ के समान अपने राम को शिष्य समझने लगा। मन-ही-मन उनको शास्त्र पढ़ाता और चर्चा-व्याख्या करता। मानो किसी तरह साधना-जीवन में गुरु-शिष्य-सम्बन्ध सुदृढ़ हो गया। इसीलिये आज भी उन्हीं शिष्य-रूपी श्रीरामचन्द्र के साथ मेरा शास्त्र-पाठ, शास्त्र-चर्चा

आदि होती है। यह भाव इस प्रकार हृदय में बैठ गया है, अत: मैं मन्दिर में राम-सीता का दर्शन करने हेतु जाने की बात सोच भी नहीं सकता। शिष्य अपने गुरु के पास ही सन्तुष्ट रहते हैं। तुम लोगों की जिज्ञासा का यही उत्तर है।''

साधु लोगों की शंका का समाधान हो चुका था। इस तरह के भावमय उपासना की बात तो उन लोगों ने कभी सुनी ही नहीं थी। वे लोग उन महात्मा से मन्दिर में जाने के लिये बारम्बार अनुरोध करने लगे। एक साधु बोले, ''राम के विवाह के बाद कैकेयी ने सीताजी को कनक-भवन दिया था। वहाँ माँ जानकी और श्रीराम की मूर्ति है। राम दरबार भी है। एक दिन आप हमारे साथ वहाँ दर्शन करने चलिये। महात्मा टाल-मटोल करते हुये बोले – ''देखो, मुझे अचानक देखकर सीताजी लज्जित हो जायेंगी, राम भी उठकर खड़े हो जायेंगे। मेरा जाना ठीक नहीं होगा।''

परन्तु साधु लोग भी सहज ही छोड़ने वाले नहीं थे। वे लोग महात्मा को साथ लेकर चल पड़े। वे कनक-भवन में प्रवेश करने में संकोच कर रहे थे, पर साधु लोग उन्हें नहीं छोड़ते। तभी एक अद्‌भुत बात हुई ! उनके प्रवेश करते ही मन्दिर का दृश्य बदल गया। साधुओं ने देखा सीताजी का मुकुट नीचे गिरा पड़ा है, घूँघट मुख के ऊपर आ गया है और रामचन्द्रजी उठकर खड़े हो गये हैं !

महात्मा प्राय: तत्काल बाहर निकलकर वापस चले गये। स्थानीय साधु लोग समझ गए कि उन साधु के भाव के विरुद्ध उन्हें लाने के कारण, उनके सामने ही इष्टदेव और इष्टदेवी ने समझा दिया कि यह कार्य ठीक नहीं हुआ।

वे लोग क्षमा-प्रार्थना करने हेतु पुन: सरयूतट की ओर चल पड़े। किन्तु वे रमता साधु वहाँ कहाँ? ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी निर्जन गुफा की खोज में चित्रकूट के पथ पर अग्रसर हो गये, जहाँ वे अपने रघुवीर को शास्त्र पढ़ायेंगे और उनके साथ शास्त्र के गहन विचारों में डुबकी लगायेंगे। ❑

स्वामीजी को शत-शत प्रणाम

नरेन्द्र चन्द्र नैथानी

हे वीरेश्वर आनन्द धाम, तुमको मेरे शत-शत प्रणाम।
हे नित्यमुक्त, हे पूर्णकाम, हे दिव्य-मूर्ति पावन ललाम।।

तुम नीलकंठ शिव व्योमकेश, सच्चिदानन्द यतिगुरु महेश।
संन्यासी का चिर अग्निवेश, तव ज्ञानकोश अक्षय अशेष।।

तुम निराकार, तुम निर्विकार, तुम नाद वेद ओंकार सार।
तव अन्तर भावों से पूरित, अनुकम्पा का सागर अपार।।

तुम युगदृष्टा, तुम युगस्रष्टा, तुम युगपालक, तुम युगाधार,
भारत की भावी संस्कृति के, तुम बनकर आये गुणागार।।

तुम चले, जगत् भी साथ चला, श्रद्धा से अवनत कोटि माथ
पीड़ित जनता के कष्ट देख, करुणामय तुम उन्मुक्त हाथ।

हो परिव्राजक कर भ्रमण दीर्घ, देखे तुमने सब ग्राम-नगर।
भूखे-प्यासे अध्यात्म-व्रती, पदचिह्न छोड़ते डगर-डगर।।

नंगे पाँवों से भ्रमण किया, था संग कमण्डलु और दण्ड।
आखिर पहुँचे सागरतट पर, कन्या-कुमारिका शिलाखंड।।

तुम सागर तैर वहाँ पहुँचे, पाषाण-खण्ड पर ध्यान किया।
जाकर विदेश, कुछ करने का, मन में पक्का संकल्प लिया।

सोचा, भारत के कोटि-कोटि भूखों का होकर जाऊँगा,
देकर उनको अध्यात्म-रत्न, कुछ धन-वैभव ले आऊँगा।

तुम धर्मसभा में जा पहुँचे, देने सन्देश नया अनुपम।
अज्ञान और कट्टरता पर, छोड़ेंगे मानो ऐटम बम।।

इस अनाहूत विद्वत् वर को, था मिला न कोई उच्चासन।
पर बारी आने पर निकला, विद्युत् सम तेजस्वी भाषण।

वे बोले – भगिनी और भ्रातृगण, मैं भारत से आया हूँ।
चिर-शाश्वत वैदिक ऋषियों का, सन्देश सुनाने आया हूँ।।

हम सभी जीव हैं अविनाशी, सच्चिदानन्द के दिव्य अंश,
छोड़ो हिंसा औ भेदभाव, अज्ञान निशा का करो ध्वंस।।

हममें तुममें है भेद नहीं, सबका स्वामी परमात्मा है।
हैं धर्म अनेक जगत् में पर, सबमें व्यापक बस आत्मा है।।

ज्यों भिन्न-भिन्न जल के प्रवाह, सागर में जा मिल जाते हैं।
त्योंही विभिन्न सब धर्म-मार्ग, परमेश्वर तक ले जाते हैं।।

यदि कोई सोचे – मेरा ही बस धर्म बचा रह जायेगा।
तो सच कहता हूँ तुम जानो, वह अपने मुँह की खायेगा।।

सब जीवों में शिव को देखो, नर को ही नारायण जानो।
पीड़ित जन की सेवा करके, निज को कृतकृत्य-धन्य मानो।।

सब धर्मों का हो मूलमंत्र; न ध्वंस-युद्ध, पर शान्ति-सृजन।
छोड़ो सब ईर्ष्या-द्वेष-कलह, दिखलाओ सहृदयता सुमिलन।।

विश्व-बन्धुता औ सहिष्णुता, सह-अस्तित्व सभी का मानो।
सब धर्मों का मान करो, सबको अपना हितकारी जानो।।

सब धर्मों के ध्वज पर अंकित, हो शान्ति-प्रेम का नारा ही।
हैं सब धर्मों में सत्य निहित, मानवता का है ध्येय यही।।

वेदों की अनुपम वाणी को, ऋषि विवेक ने फिर दुहराया।
रोमांचित हो उठे श्रोतृगण, सबको यह सब दिल से भाया।

अविरल करतल ध्वनि से गूँजा, अमरीका का सभागार था।
सुखद समन्वय की ये बातें, मानो कोई चमत्कार था ।।
हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई, सबके ईश्वर, ईश्वर सबके,
सब धर्मों में श्रेष्ठ तत्त्व हैं, नाहक तुम आपस में लड़ते ।
सब धर्मों को सच्चा मानो, अपने स्वधर्म को मत छोड़ो,
हर मानव को अपना मानो, खुद को परमेश्वर से जोड़ो ।
अमरिका के बहु नगरों में, स्वामीजी का भाषण होता ।
उनके मुख से बहता मानो, वेदों की विद्या का सोता ।

कई वर्ष तक स्वामीजी ने, वहाँ धर्म की अलख जगाई,
पश्चिम में वेदान्त-ज्ञान की, अविरल दैवी ज्योति जगाई ।
अमेरिका में स्वामीजी ने, दुनिया को झकझोर दिया था,
मानो अँधियारे में सहसा, जग को ज्ञानालोक दिया था ।
धूमकेतू-सा अल्पकाल ही, स्वामीजी ने कार्य किया था,
उन्तालिस की मात्र आयु में, जग से चिर प्रस्थान किया था ।
मिशन चल रहा अब भी उनका, दुनिया के नगरों गाँवों में,
सेवा पाते हैं असंख्य जन, मानो तरुवर की छावों में ।। ❑

पुन: लो प्रणति, विवेकानन्द

डॉ. प्रभाकर माचवे

(हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री माचवे ने स्वामीजी की जन्म-शताब्दी के अवसर पर दिल्ली से कलकत्ता विमान-यात्रा के दौरान दिनांक २६.१.६३ को लिखी थी, जो 'ज्ञानोदय' मासिक के मार्च ६३ अंक में छपी। वहीं से इसका पुनर्मुद्रण किया जा रहा है। – सं.)

स्वामी विवेकानन्द
अब भी नहीं ज्योति मन्द
चारों ओर छाए हैं छल-छन्द
मिटे नहीं अब भी हमारे द्वन्द्व
फिर भी नहीं ज्योति मन्द !

फैलती सुगन्ध दूर दूर तक
गुरु की, अगुरु की
परमहंस धवलिमा चन्दन के तरु की
मिटा रहा अन्दर का हृदय-दाह ।

लन्दन से कन्दहार
नन्दन कर जयघोष श्रद्धा के, वाह वाह !
शिकागो में, मास्को में, फ्रिस्को में,
लास एँजिलिस में और पेरिस में
एक ही दृढ़ा वाणी निस्पन्द :
धर्म नहीं एक पन्थ, एक राह !

धर्म क्या न पहचानी, जिसने दुख की कराह
धर्म के हैं कई मार्ग औ' किस्में ।
अनेकान्त
धर्म नहीं एक लिपि,
भाषा एक, एक प्रान्त

स्वामी विवेकानन्द
धर्म नहीं अन्ध
गलियारा नहीं तंग वह
धर्म नहीं ऐसा घर जिसके सब द्वार बन्द ।

धर्म नहीं शीशहीन बस कबन्ध
धर्म नहीं टूटा हुआ वाण, वृथा, निष्पन्द !
प्रथम प्रात अरविन्द का मधुमय मकरन्द
जिस पर सहस्त्र वर्ष मँडराता मन-मिलिंद
आदिम आस्थाओं की शैली-सी फूटती
मानव-मानव सम्बन्ध
स्नेह की ही निश्छल धारा अबन्ध
स्वच्छन्द ।

धर्म नहीं कुंद गली
गन्दगी के पीछे जिन्दगी का
ॐ नम: शिवाय
ॐ नम: बुद्धाय
जो होते नालन्द आक्रमण
भिक्खु भाग जाएँ
धर्म नहीं बन्धन
पर मुक्ति-गन्ध !

स्वामी विवेकानन्द, आज भी तुम्हारा नाम
लेकर वे निष्काम
कर्मयोगी बढ़ते हैं सीमा पर हिम में
खेत हुए पीतवाहिनी से ली मुहिम में
इतिहास अकरुण है बेकाम
आक्रमण हुए चाहे सिकन्दर
या नादिर या तैमूर खैबर से
या फ्रेंच, डच, पुर्तगालियों ने लिए बन्दर
हुआ उनका निरादर
'यूनान-मिस्त्र-रूमाँ सब मिट गए जहाँ से
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी ।'

स्वामी विवेकानन्द, अब भी तुम्हारा रूप
कितनी निवेदिताओं को यहाँ खींच लाया
कितने शिष्य-शिष्याएँ
भव्य दिव्य निज-स्वरूप

स्मृति उनकी जैसी हो हेमन्त में हल्की नयी धूप
ओ अनूप

धर्म नहीं अन्धकूप
चूमता है कलाई
कि जिस पर है गुँदी काली माई
क्षत-विक्षत तन सारा रक्त-रन्ध्र
पर स्वातन्त्र्य रक्षा के हित अतन्द्र

धर्म तो विवेक
जिसकी है टेक
मानव सब हैं अन्ततः एक
भले काले हों, गोरे हों
बुद्धिमान, भोले हों
मन के कपाट ढँके हों, खोले हों

धर्म नहीं रूखा तर्क
धर्म नहीं ऊपर का सिर्फ सुनहरा वर्क
धर्म यहाँ है चुशूल, धर्म यहाँ डंकर्क
धर्म यहाँ बोमदीला
धर्म यहाँ आत्मयज्ञ-सम्पर्क
हर क्षण पर धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र
अन्यथा है युद्ध यंत्र-तंत्रों का बस भिड़न्त
युद्ध तो है शिव का तृतीय नेत्र
अन्यथा तो शक्ति भी है अन्धी नृत्यरता वेत्र

धर्म यहाँ आनन्द
धर्म का काम नहीं
मिथ्या नर्क-नन्दन का शाश्वत विराम नहीं
धर्म तो विवेक धन (+) आनन्द
बुद्धि हृदय दोनों का समन्वय समच्छन्द !

स्वामी विवेकानन्द
वाणी तेरी बुलन्द
आज हमें याद पुनः आती है
भर उठती छाती है
भूले सब दुःख-द्वन्द्व
वरें विजय निस्सन्देह साँच को न आँच रही
त्रिपिटिक के सुत्त जला, माओ-तुन बाँच रही
'भारत' के धैर्य को अहिंसा को जाँच रही
ऐसे समय पीने उस वाणी का अमृत-बुन्द
मन ललचाता
नाम से तुम्हारे आज फिर झुकता मेरा माथा

स्वामी विवेकानन्द
रामकृष्ण के नोरेन,
भारत की भावी के स्यन्दन के तुम मुकुंद

आज गणतन्त्र दिन
सरहद पर छाए हैं बाल क्यों कु-मलिन
कल थी अमावस और
याद आए बेवस
जो मर गए हमारे मित्र-बंधु-वीर अनगिन ।

हम मृत्यु-पूजक नहीं
'वासांसि जीर्णानि ...' मृत्यु एक क्षण-स्थिति है
जीवन की जय गति है
अप्रतिहत जीवन की कब इति है?
मरण एक वे-साइड स्टेशन है
वाक्यों के बीच एक कामा है,
जीवन सम्प्रेषण है ।
पर अकम्प जलती है अग्निशिखा निराकृति
श्रुति, स्मृति, पुराणों में उक्ति वह कब बँधी
ऐसी धृति -
'मोह मोर मुक्ति रूपे उठिबे ज्वलिया
प्रेम मोर मुक्ति रूपे उठिबे फलिया ...'
'सुन्दर मी होणार मरणाने जगणार'
वह रवीन्द्र-गीतांजलि गाँधी की अनासक्ति -
वह विवेकानन्द-उक्ति
हमें बल देती है
तूफान कैसे भी कितने भी दुष्कर हो
राष्ट्र नाव खेती है
मंगलमय तेरी वह वाणी की पतवार
अनिर्वार
'झेड़े देबो सब चूर-मार'
दुर्धर गिरिकान्तर पथ दुस्तर पारावार ...
कोन् रे जवान, होये अगुवान हाँकिछे भविष्यत्'
मेरे सुरक्षित रहें
नंगल औ' भाखड़ा औ' दुर्गापुर औ' रिहंद

स्वामी विवेकानन्द
चलता ही जाता है अपनी चाल से
झूमता हुआ मेरे देश का गयंद
झुकने दो श्वानों को
ल्यू-शेह चूतेह माओ को, नये चंगीजखानों को
बर्बर अमानुष दहकानों को
मानते नहीं हैं जो प्राचीन सारे मूल्य-मानों को
बुद्ध महायानों को ।

पुनः लो प्रणति, लो पुनः प्रण,
पुनः बलिदानों को
स्वामी विवेकानन्द !

❑ ❑ ❑

कर्मयोग – एक चिन्तन (२३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

ये आसक्ति और अहंकार हमारे आध्यात्मिक जीवन के परम शत्रु हैं। यदि हमने उन्हें छोड़ने का, त्यागने का प्रयत्न नहीं किया, तो ये अनन्त जन्मों तक बने रहेंगे। इस सम्बन्ध में एक कहानी मैंने सुनी थी उसे आपको सुनाता हूँ –

एक सेनापति था। वह जंगल में शिकार करने गया। शाम हो गयी। अंधेरा हो गया। वह रास्ता भटक गया। उसने घोड़े को पेड़ से बाँध दिया। पेड़ पर चढ़कर देखा, तो उसे दूर पर एक टिमटिमाता हुआ प्रकाश दिखाई दिया। उसने सोचा कि वहाँ अवश्य कोई गाँव होगा। ठीक से दिशा देखकर वह वहाँ पहुँचा। उसने देखा कि वहाँ एक झोपड़ी है। एक बुढ़िया बैठी हुई चरखे से सूत कात रही है। सेनापति ने उतरकर उससे कहाँ – मैया! मैं इस राज्य का सेनापति हूँ। उस बुढ़िया ने कहा – ठीक है बैटा, जो भी हो, बैठ जाओ और रोटी खा लो, मैं भी खा लेती हूँ। वह बहुत थक गया था। वह सोना चाहता था। बुढ़ियाँ ने उससे कहा, ठीक है, सो जा बेटा, किन्तु एक शर्त है। रात में मैं सूत कातती रहूँगी और तुम्हारे शरीर पर लपेटती रहूँगी। सबेरे नींद खुले, तो उसे तोड़ देना और चले जाना। वह बोला, मैं तो इतना बड़ा सेनापति हूँ, एक रात क्या दस रात का सूत तू मेरे ऊपर लपेट देना, उसे तोड़कर मैं चला जाऊँगा। वह थका था, सो गया। बुढ़िया रात भर सूत कातकर उस पर लपेटती रही, जब नींद खुली तो उसने देखा कि शरीर का एक रोम भी खाली नहीं हैं, जहाँ सूत नहीं लपेटा गया है। वह सिर भी नहीं हिला पा रहा है। वह चिल्लाने लगा कि माँ तुम कहाँ हो? वह बुढ़िया कहती है कि मैं जहाँ बैठी थी वहीं हूँ। यह लम्बी कहानी है, उसे छोड़ दीजिये। आसक्ति का धागा बहुत पतला होता है, जब वह लिपट जाता है, तो बड़ा से बड़ा सेनापति भी उसे नहीं तोड़ पाता। अत: पहली बार में ही हमें उसे तोड़ देना चाहिये।

भगवान कहते हैं कि प्रकृति अपना काम कर रही है, हमारा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। हमें मूल तत्त्व का अनुभव कर, तत्त्ववित्त होकर आसक्ति में नहीं पड़ना है। हमारा तत्त्व क्या है? जैसे दूध का तत्त्व घी है? दूध को दही बनाकर उसका मंथन करना पड़ता है, तब मक्खन निकलता है। फिर उसे गर्म करने पर घी बनता है। तिल का तत्त्व है तेल। वट के वृक्ष का तत्त्व है बीज, जिससे वट-वृक्ष उगता है। वैसे ही हमारे जीवन का तत्त्व शुद्ध चैतन्य आत्मा है?

आप सोचकर देखें कि जीवन में कितने परिवर्तन हुए। अपने घर में माँ-पिता के साथ बेटी रहती है, उसका विवाह हो गया, तो बेटी का रूप बदल गया, वह पत्नी हो गयी, संतान होने पर माँ बन गयी। इस प्रकार उसकी उपाधि बदलती गयी। हम मनुष्य हैं, तो हमारा तत्त्व क्या है? इसे समझने के लिये हमें साधु-संग करना पड़ेगा, शास्त्र पढ़ना या सुनना पड़ेगा, साधना करनी पड़ेगी। दूध से घी बनाने की प्रक्रिया के समान आत्ममंथन करना पड़ेगा। हमारा मूल स्वरूप आत्मतत्त्व अपरिवर्तनीय नित्य-मुक्त-शुद्ध-बुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है। इसकी अनुभूति भले ही आज हमें नहीं हो रही है, किन्तु साधना करते-करते कभी-न-कभी इसकी अनुभूति अवश्य होगी। यह दीर्घ काल तक चलने वाली यात्रा है।

भगवान कहते हैं, जब तुम तत्त्ववित् हो जाओगे, तो फिर तुमको कोई साधना नहीं करनी पड़ेगी। तुम द्रष्टा के समान देखते रहोगे कि प्रकृति मुझसे भिन्न है, और मैं उसका द्रष्टा हूँ। सांख्य दर्शन में वही प्रकृति और पुरुष का खेल है। पुरुष प्रकृति में लिप्त हो गया है, इसलिये वह कष्ट पाता है। प्रकृति उसे विभिन्न प्रकार की लीला दिखाती है। जैसे एक नृत्यांगना नाच करके किसी राजा को प्रसन्न करती है, उसी प्रकार प्रकृति विभिन्न प्रकार के क्रीड़ाओं से पुरुष को मुग्ध करके बताना चाहती है कि तुम प्रकृति से भिन्न हो। उसी प्रकार हम जब विचार करेंगे, सत्संग करेंगे, साधना करेंगे, तो हमको यह बोध होगा कि हम केवल शरीर नहीं हैं, शरीर से भिन्न आत्मा हैं।

आसक्ति में कौन फँसता है? –

प्रकृतेर्गुणसम्मूढ़ाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।३-२९

प्रकृति के गुण से जो लोग मोहित हो जाते हैं, ऐसे लोग आसक्ति में फँस जाते हैं। वे गुण और कर्म को ठीक से नहीं जानते। उन्हें गीता में मूढ़, अकृत्स्नविद् कहते हैं। ज्ञानियों को वैसे अज्ञानियों को भी विचलित या भ्रमित नहीं करना चाहिये।

गीता जीवन के उद्देश्य पर बहुत जोर देती है। इस उद्देश्य को हमेशा याद रखना चाहिये। गीता जीवन्मुक्ति का उपदेश देती है। मरने के बाद भी गीता में स्वर्ग प्राप्ति आदि की बात कही गयी है, किन्तु गीता जीते-जी मुक्ति की बात कहती है – 'इहैव तैर्जितोसर्गो येषां साम्ये स्थितो मन: – जो इस संसार को इसी देह में, यहीं और इसी क्षण जीत लेता है, वह समता में स्थित हो जाता है। वह दु:ख और सुख में

विचलित नहीं होता है, द्रष्टा के समान हो जाता है। यह बिल्कुल संभव है। इस सम्बन्ध में मैं तिलक जी की एक घटना का उल्लेख करता हूँ —

लोकमान्य तिलक गीता के मर्मज्ञ थे। उनके जीवन की एक घटना मैंने सुनी है। उस समय देश गुलाम था और तिलक जी बहुत बड़े नेता थे। वे मराठी और अँग्रेजी में दो पत्रिकायें निकालते थे। 'माराठा' - अंग्रेजी में और 'केसरी' मराठी में। एक बार देश की किसी जटिल समस्या पर सम्पादकीय लिख रहे थे। उनका पुत्र बीमार था। उन्होंने नौकर को भेजकर डॉक्टर को बुलवाया। उपचार प्रारम्भ हुआ। वे अपनी पत्रिका के कार्यालय में जाकर सम्पादकीय लेख लिखने में लग गये। दूसरे दिन लेख छापना था, किन्तु दोपहर को खबर आयी कि पुत्र बहुत बीमार है। वे बोले 'मेरा केवल एक पुत्र बीमार है, और यहाँ सारा राष्ट्र बीमार है, ऐसी संकट की घड़ी में, मैं अभी नहीं जा सकता। मुझे ये लेख लिखकर पूर्ण करना है और रात में ही उसे पत्रिका में छपवाना है, वह व्यक्ति लौट गया। संध्या हुई और रात में उनके पुत्र की मृत्यु हो गयी। तिलक जी ने कहा पुत्र की मृत्यु हो गयी, तो दाह-संस्कार की व्यवस्था कर दो। मुझे बताने से क्या लाभ! उसके बाद भी वे आधी रात तक बैठकर मराठा और केसरी के लिये लिखते रहे। लेख प्रेस में भेजकर और तब घर लौटे। जो कर्म हाथ में था, उसे उन्होंने पहले पूर्ण किया। उसके बाद उन्होंने कहा, ठीक है, भगवान की जो इच्छा थी, वही हुआ। इस प्रकार गीता के उपदेशों को जीवन में आचरण करनेवाला व्यक्ति सुख-दुख से विचलित नहीं होता है। यह व्यावहारिक सत्य है।

श्रीरामकृष्णदेव ने कभी किसी को गलत नहीं कहा, कभी किसी की निन्दा नहीं की और कभी किसी के भाव को आघात नहीं पहुँचाया। उनके एक भक्त थे – सुरेन्द्र मित्र। वे एक अंग्रेज कंपनी में काम करते थे। वे शराब बहुत पीते थे। श्रीरामकृष्णदेव के तथाकथित भक्त जो शराब नहीं पीते थे, वे लोग अपने को बड़ा भक्त समझते थे। उन लोगों को यह अभिमान था, शराब नहीं पीते हैं और रामकृष्णदेव के पास रोज जाते हैं, किन्तु ये शराबी आने वाला कौन होता है? सुरेन्द्र बाबू बीच-बीच में ठाकुर के पास आते थे, तब ये तथाकथित भक्त श्रीरामकृष्णदेव को कहते थे, 'ठाकुर, इसे आप क्यों आने देते हैं? यह तो शराबी है और इसका चरित्र भी ठीक नहीं है। इसे यहाँ आने को मना कर दीजिए। उन लोगों की बातों को सुनकर ठाकुर कुछ नहीं कहते थे।

एक दिन की बात है। सुरेन्द्र आये। ठाकुर ने सुरेन्द्र से कहा – सुरेन, इतना मत पीना की पैर लड़खड़ाते रहें और कहीं गिर जाओ। ठाकुर की बात सुनकर सुरेन्द्र बाबू को बड़ा आनन्द हुआ। उनको लगा कि ठाकुर मेरे बारे में सब कुछ जानते हैं, फिर भी मुझे शराब पीने से मना नहीं कर रहे हैं। केवल इतना ही कहते हैं कि इतना मत पीना की पैर लड़खड़ा जायें। सुरेन्द्र कम उम्र में ही इस संसार से चले गये। ठाकुर का यह विधेयात्मक सकारात्मक उपदेश चिन्तनीय है। गिरीश घोष को ठाकुर ने कभी नहीं कहा कि तुम शराब मत पिओ। गिरीश घोष कहते हैं कि अरे श्रीरामकृष्ण का चमत्कार देखना है, तो नरेन्द्र, राखाल को क्या देखते हो, मुझे देखो। ठाकुर से परिचय होने के बाद उनकी कृपा से कितने पापों से मुक्त होकर मैं आज भक्त बन गया हूँ। कभी मजे में गुरुभाईयों से कहते थे कि मैं भी तुम लोगों के जैसे ब्रह्मज्ञानी हो गया हूँ।

इसलिये जो लोग हमसे नीचे हैं, कभी उनके प्रति हमें हेय बुद्धि नहीं रखनी चाहिये, कभी उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। ऐसी अहं-बुद्धि हमारे सर्वनाश का कारण बनती है। बल्कि कोई पूछे तो उसे अपना अनुभव बताना चाहिये और कहना चाहिये कि देखो भाई मैंने ठाकुर की बात मानी, तो मेरा कल्याण हुआ है, यदि तुम भी उनकी बात मानो, तो तुम्हारा भी कल्याण होगा।

भगवान श्रीकृष्ण के मुख से कुरूक्षेत्र के रणभूमि में जो वाणी निकली थी, वह शाश्वत है। भगवान अर्जुन के माध्यम से सारे विश्व को यह संदेश दे रहे हैं। मनुष्य का परम कल्याण कैसे हो सकता है, यह बात भगवान ने गीता में बतायी है। गीता एकदम व्यावहारिक ग्रन्थ है।

जैसे डॉ. के पास मटेरिया मेडिका की किताब रहती है, जिसमें किस रोग की क्या दवा देनी है, सब लिखा रहता है, उसे पढ़कर डॉक्टर मरीज को दवा देते हैं। वैसे ही भगवद् गीता में मनुष्य के जीवन की सभी – इहलोक और परलोक – दोनों लोकों की समास्याओंका समाधान दिया गया है। पर पहले हमें अपनी समस्या देखनी पड़ेगी। हमें क्या बीमारी है, वह जानकर डॉक्टर को बताना पड़ेगा। तभी तो डॉक्टर दवाईयाँ देकर रोग दूर कर सकेंगे। उसी प्रकार हमलोगों को अपनी समस्याओं को समझना पड़ेगा। तब हमें उसका समाधान गीता में मिलेगा। गीता में ही क्यों? हम दूसरी जगह क्यों न उसका समाधान खोजें? संसार में अनन्त काल से समस्याओं को मिटाने का प्रयत्न लोगों ने किया है, पर उन समस्याओं का समाधान हुआ क्या? आज से ५ हजार वर्ष पूर्व समस्याओं का समाधान करने के लिये महाभारत का महान युद्ध हुआ था। उसके बाद वैसा ही युद्ध पिछली शताब्दी में दो-बार हो गया। १९१४-१९१५ तक और १९३९ से १९४५ तक, किन्तु इससे समस्याओं का समाधान हुआ क्या? संसार की समस्याओं का समाधान नहीं हुआ। अब आप व्यक्तिगत जीवन में देखिए – मुझे भूख लगी है, तो मुझे ही भोजन करना पड़ेगा। मेरे व्यक्तिगत जीवन में जो समस्यायें हैं, उसका समाधान मुझे ही करना पड़ेगा। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः
सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्संचितागामिनाम् ।
ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा संस्थिता-
तेषां तत्त्रितयं नहि क्वचिदपि ब्रह्मैव ते निर्गुणम् ।।४५३

अन्वय – विदां खलु प्रारब्धं बलवत्तरं, तस्य भोगेन क्षयः । प्राक्-संचित्-आगामिनाम् सम्यग्-ज्ञान-हुताशनेन विलयः । ब्रह्मात्मैक्यं अवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा संस्थिताः, तेषां तत् त्रितयं क्वचित् अपि न हि, ते निर्गुणम् ब्रह्म एव ।

अर्थ – ज्ञानी लोगों के लिये भी प्रारब्ध कर्म निश्चय ही (संचित तथा आगामी कर्मों की अपेक्षा) अधिक बलवान होता है । केवल भोग के द्वारा ही उसका क्षय किया जा सकता है । सम्यक् आत्मज्ञान की अग्नि द्वारा पिछले जन्मों में संचित तथा आगामी कर्मों का नाश किया जा सकता है । जो लोग ब्रह्म तथा आत्मा की एकता की अनुभूति करके सर्वदा तन्मयतापूर्वक उसी बोध में स्थित रहते हैं, उसके लिये तीनों कर्मों (प्रारब्ध, संचित तथा आगामी) का कभी भी अस्तित्व नहीं रह जाता, वे निर्गुण ब्रह्म ही हो जाते हैं । (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।)

उपाधितादात्म्यविहीनकेवल-
ब्रह्मात्मनैवात्मनि तिष्ठतो मुनेः ।
प्रारब्धसद्भावकथा न युक्ता
स्वप्नार्थसम्बन्धकथेव जाग्रतः ।।४५४।।

अन्वय – उपाधि-तादात्म्य-विहीन-केवल-ब्रह्म-आत्मना एव आत्मनि तिष्ठतः मुनेः, जाग्रतः स्वप्नार्थ-सम्बन्ध-कथा-इव प्रारब्ध-सद्-भाव-कथा न युक्ता ।

अर्थ – जैसे निद्रा से जागे हुए व्यक्ति का स्वप्न में देखी हुई वस्तुओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही उपाधियों के तादात्म्य (देहात्मबोध) से रहित, केवल ब्रह्मात्मबोध के साथ अपनी आत्मा में ही स्थित हुए मुनि (ज्ञानी) के लिये प्रारब्ध की सत्यता कहना उचित नहीं ।

न हि प्रबुद्धः प्रतिभासदेहे
देहोपयोगिन्यपि च प्रपञ्चे ।
करोत्यहन्तां ममतामिदन्तां
किन्तु स्वयं तिष्ठति जागरेण ।।४५५।।

अन्वय – प्रबुद्धः प्रतिभासदेहे च देहोपयोगिनि प्रपञ्चे अपि अहन्ता ममता इदन्ता करोति न हि, किन्तु स्वयं जागरेण तिष्ठति ।

अर्थ – निद्रा से जगा हुआ व्यक्ति स्वप्न में देखे हुए छाया -देह में 'अहम्' (मैं) एवं 'मम' (मेरा) और उसके साथ ही उस छायादेह के उपयोगी प्रपंच (सुत, दारा, धन, सम्पदा, घर-द्वार आदि) में 'इदम्' (यह) का भाव नहीं रखता; अपितु वह अपनी आत्मा के रूप में जागते हुए स्थित रहता है ।

न तस्य मिथ्यार्थसमर्थनेच्छा
न संग्रहस्तज्जगतोऽपि दृष्टः ।
तत्रानुवृत्तिर्यदि चेन्मृषार्थे
न निद्रया मुक्त इतीष्यते ध्रुवम् ।।४५६।।

अन्वय – तस्य मिथ्या-अर्थ-समर्थन-इच्छा न, तत्-जगतः संग्रहः अपि न दृष्टः । यदि चेत् तत्र मृषा-अर्थे अनुवृत्तिः निद्रया न मुक्तः ध्रुवम् इति इष्यते ।

अर्थ – जगा हुआ व्यक्ति – स्वप्न में दिखे हुए मिथ्या वस्तुओं का, न तो समर्थन की इच्छा करता है, न उस जगत् को ग्रहण (प्राप्त) करता है । यदि उसमें इस मिथ्या-रूप स्वप्न-जगत् में अनु-प्रवृत्ति (आसक्ति) देखने में आती है, तो यह निश्चित जानो कि वह (अज्ञान-निद्रा से) जगा हुआ नहीं है ।

तद्वत्परे ब्रह्मणि वर्तमानः
सदात्मना तिष्ठति नान्यदीक्षते ।
स्मृतिर्यथा स्वप्नविलोकितार्थे
तथा विदः प्राशनमोचनादौ।।४५७।।

अन्वय – तद्वत् परे ब्रह्मणि वर्तमानः सदात्मना तिष्ठति, अन्यत् न ईक्षते । यथा स्वप्न-विलोकितार्थे स्मृतिः तथा विदः प्राशन-मोचन-आदौ ।

अर्थ – इसी प्रकार जो (ज्ञानी) परब्रह्म में आत्म-स्वरूप बोध के साथ स्थित है, वह उस (एकमेवाद्वितीय ब्रह्म) से भिन्न कुछ भी नहीं देखता । जैसे स्वप्न में देखी हुई वस्तु की स्मृति रह जाती है, वैसी ही पहले की स्मृति के अनुसार ज्ञानी का भोजन, शौच आदि होता रहता है ।

कर्मणा निर्मितो देहः प्रारब्धं तस्य कल्प्यताम् ।
नानादेरात्मनो युक्तं नैवात्मा कर्मनिर्मितः।।४५८।।

अन्वय – देहः कर्मणा निर्मितः तस्य प्रारब्धं कल्प्यताम् । अनादेः आत्मनः न युक्तम् । आत्मा कर्मनिर्मितः न एव ।

अर्थ – देह कर्म के फलस्वरूप निर्मित हुआ है, अतः उसके निर्माण के पीछे प्रारब्ध कर्म का हाथ है, ऐसा माना जा सकता है; परन्तु अनादि आत्मा के विषय में ऐसी कल्पना अयुक्तिसंगत है । आत्मा कर्म द्वारा निर्मित नहीं है ।

अजो नित्यः शाश्वत इति ब्रूते श्रुतिरमोघवाक् ।
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ।।४५९।।[१]

अन्वय – अमोघ-वाक् श्रुतिः 'अजः नित्यः शाश्वतः' इति ब्रूते । तत्-आत्मना तिष्ठतः अस्य प्रारब्ध-कल्पना कुतः?

अर्थ – श्रुति की अमोघ उक्ति है – वह आत्मा 'अजन्मा, नित्य और शाश्वत है ।'[२] उस आत्मबोध में स्थित हुए (ज्ञानी) के सन्दर्भ में प्रारब्ध की कल्पना भला कैसे सम्भव है?

---

१. यह तथा अगले कुछ मंत्र या उनके अंश 'अध्यात्म-उपनिषद्' (५५-६३) में भी मिलते हैं । २. कठोपनिषद्, १/२/१८ ❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में २०१३ में पूरे देश में कार्यक्रम आयोजित किये गये –

छत्तीसगढ़-मध्यप्रदेश रामकृष्ण-भावधारा की अर्ध-वार्षिक सभा अप्रैल, २०१३ को ग्वालियर में सम्पन्न हुयी।

रामकृष्ण मिशन, बड़ौदा में २८ मार्च, २०१३ को 'माँ सारदा अन्नक्षेत्र' का उद्घाटन रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी प्रभानन्दजी महाराज ने किया। इसमें प्रतिदिन १५० लोगों को खिचड़ी प्रसाद वितरित किया जायेगा।

रायपुर के रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम और विवेकानन्द केन्द्र के तत्त्वावधान में पंचदिवसीय ८ से १२ तक के बच्चों के लिये तेजस् कार्यशाला का आयोजन किया गया, जिसमें प्रतिभागी छात्र-छात्राओं को योगासन, ध्यान, प्रार्थना, वाद-विवाद और प्रोजेक्टर शो आदि कार्यक्रमों के द्वारा उनकी तेजस्विता को निखारने का प्रयास किया गया।

रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा संचालित 'स्वामी विवेकानन्द स्वाध्याय-माला' योजना के अन्तर्गत १६०० विद्यालयों के २,१७००० छात्रों ने भाग लिया। 'शिक्षक' योजना के तहत ११ जिलों के २५०० शिक्षकों ने भाग लिया और स्वामी विवेकानन्द पर आधारित अपने निबन्ध, शोध-प्रबन्ध, ड्राइंग, कहानियाँ, स्कीत और कवितायें आदि प्रस्तुत किये। अन्तर्विद्यालयीय समूह-गान प्रतियोगिता में अंतिम चरण में १६ विद्यालयों के छात्रों ने आश्रम प्रांगण में ही अपनी प्रस्तुति दी।

विवेकानन्द रथ-यात्रा – नागपुर के रामकृष्ण मठ द्वारा स्वामी विवेकानन्द रथयात्रा निकाली गयी। उसके साथ ही पुस्तक-विक्रय केन्द्र, स्वामीजी की प्रदर्शनी और स्वामीजी पर एनीमेटेड फिल्म भी थी। २४ दिसम्बर, २०१२ से ३१ जनवरी, २०१३ तक महाराष्ट्र के ११ जिलों में यह रथ भ्रमण करता रहा। रथ-यात्रा के दौरान स्वामीजी के चित्र और प्रश्नावली के साथ १,१०,००० पत्रक वितरित किये गये।

स्वामी विवेकानन्द रथ – रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची के द्वारा २५ अप्रैल, २०१३ को स्वामी विवेकानन्द रथयात्रा निकाली गयी। झारखण्ड उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री प्रकाश टाँटिया ने हरी झंडी दिखाकर यात्रा की शुरुआत की। यह रथ छह राज्यों – झारखण्ड, बिहार, उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करेगा और स्वामीजी की स्मृति को लोगों के मन में तरोताजा करेगा।

विवेकानन्द विश्वविद्यालय विशेष श्रेणी में चयनित

मानव विकास संसाधन मंत्रालय, दिल्ली ने १ जुलाई, २०१३ को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द विश्वविद्यालय को विशेष श्रेणी प्रदान किया।

रामकृष्ण मिशन, बड़ौदा में अन्तर्राष्ट्रीय युवा शिविर

रामकृष्ण मिशन, बड़ौदा में १० तथा ११ अगस्त, २०१३ को एक अन्तर्राष्ट्रीय युवा-शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें कई देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। रामकृष्ण मिशन के महासचिव स्वामी सुहितानन्दजी, पूर्व राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम आदि अनेकों वक्ताओं ने युवकों को संबोधित किया।

साइंस कॉलेज, रायपुर में निबन्ध प्रतियोगिता

अगस्त १९१३ में रविशंकर विश्वविद्यालय की राष्ट्रीय सेवा योजना और विवेकानन्द केन्द्र के तत्त्वावधान में **युवकों के नायक स्वामी विवेकानन्द** पर निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। जिसमें विभिन्न कॉलेजों के १५० छात्रों ने भाग लिया। प्रतियोगिता के बाद विवेकानन्द आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और विश्वविद्यालय के कुलपति श्री एस. के. पांडेय जी के व्याख्यान हुये। विवेकानन्द विद्यापीठ के बच्चों ने 'अलवर में स्वामी विवेकानन्द' पर नाटक प्रस्तुत किया। अन्त में विजेता प्रतिभागियों को पुरस्कार और प्रतिभागी सभी छात्रों को पुस्तकें और अल्पाहार दिया गया।

अभिभावक सम्मेलन आयोजित हुआ

२५ अगस्त, २०१३ को सनसाइन एंजल्स स्कूल, शंकर नगर, रायपुर और 'संवर्धिनी' के द्वारा महाराष्ट्र मंडल हॉल में 'युवा-दम्पति अभिभावक-सम्मेलन' का आयोजन किया गया, जिसमें 'बच्चों के चरित्र-निर्माण में अभिभावकों का योगदान' पर स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने परामर्श दिये। प्राचार्या अरुणा पेरी, संवर्धिनी, महिला आयोग की सदस्यायें और अन्य लोगों ने भी सभा में अपने विचार रखे। ❑❑❑

❑❑

'विवेक-ज्योति' में वर्ष २०१३ ई. के दौरान प्रकाशित लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूची

❑❑❑

श्रीरामकृष्ण के उपदेश

जैसे दीपक में तेल न हो, तो वह जल नहीं सकता; वैसे ही ईश्वर न हों, तो मनुष्य जी नहीं सकता।

लोगों को किसी की प्रशंसा करने में भी समय नहीं लगता और फिर उसी की निन्दा करने में भी देर नहीं लगती। इसलिए तुम्हें लोगों की निन्दा-स्तुति की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये।

तुम दूसरों से जिस काम की अपेक्षा रखते हो, वैसे ही कार्य तुम स्वयं करो।

मनुष्य जिस प्रकार की संगति में रहता है, उसमें उसी प्रकार के संस्कार आ जाते हैं; फिर, जिसमें जैसे संस्कार होते हैं, वह वैसी ही संगति खोज लेता है।